आचार्य भद्रबाहु स्वामी (पंचम श्रुतकेवली)

क्रियासार

टीकाकर्ता एवं सम्पादक

उपाध्याय मुनि 108 श्री सुरदेव सागर

प्रकाशक :

संदीप शाह

790 सेवापथ, चम्पापुरा, लालजी सांड का रास्ता,

मोदीखाना, जयपुर-302003

फोन : 313339   फेक्स : 312166

प्रथम संस्करण : 1996-97   मूल्य : सदुपयोग

प्रस्तावना

प्रस्तावनान्तर्गत विषय :

(१) ग्रन्थ नाम एवं सार्थकता (२) ग्रन्थकार (३) पूर्व-परम्परा (४) उत्तर-परम्परा (५) आधुनिक-परम्परा (६) क्रियासार की विषय वस्तु (७) क्रियासार में वर्णित विषय (८) क्रियासार का उद्देश्य (९) क्रियासार की आवश्यकता (१०) ग्रन्थ रचना काल एवं (११) उपसंहार ।

ग्रन्थ नाम एवं सार्थकता :

''क्रियासार ग्रन्थ'' क्रिया एवं सार इन दो शब्दों के मेल से बना है । ''क्रिया-शब्द'' अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है । सामान्यत: कार्य सम्पादन करने का नाम क्रिया है । प्राकृत कोश के अनुसार ''क्रिया'' शब्द का तात्पर्य शास्त्रोक्त अनुष्ठान एवं धर्मानुष्ठान इत्यादि । ''सार'' शब्द का तात्पर्य परमार्थ, प्रकर्ष, आवश्यक एवं सर्वोत्तम इत्यादि माना है । जिसका वास्तविक अर्थ-परमार्थ हेतु जिनागम के अनुसार आवश्यक/सर्वोत्तम धर्मानुष्ठान है । यथा-

''पसत्थं उवट्ठं पइट्ठावणं जइणो ।''

यह भी ''**पुव्वांकद**'' पूर्वाचार्य कृत चतुर्विध संघ के हितार्थ इस ८० गाथा बद्ध प्राचीन ग्रन्थ का संग्रह किया गया है । अत: जिनागमानुसार धर्म एवं संयम मार्ग में उत्कर्ष रूप से यति एवं सूरि धर्मानुष्ठान सर्वोत्तम सुख के लिए परमावश्यक है । इसीलिए इस ग्रन्थ का सार्थक नाम '**क्रियासार**' रखा गया है ।

ग्रन्थकार :

इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य भद्रबाहु हैं । इस ग्रन्थ के संग्रह कर्ता आचार्य गुप्तिगुप्त हैं, जिन्हें आचार्य भद्रबाहु का परम शिष्य माना जा सकता है । प्रस्तुत ग्रन्थ में ''**गुत्तिगुत्त मुणिणाहि**'' आदि शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि जम्बूद्वीप में नर नाभि के समान सुमेरू पर्वत जिस तरह सुशोभित होता है, उसी तरह मुनिसंघ में भी नाभि के समान मूल-केन्द्र बिन्दु स्वरूप आचार्य गुप्तिगुप्त प्रवर का भी सुस्मरण किया गया है । रचनाकार भद्रबाहु हैं और इसके संग्रहकर्ता मुनिनाथ गुप्तिगुप्त हैं ।

पूर्व परम्परा :

मूल श्रुतावतार के अनुसार श्रुतधराचार्य परम्परागत भगवान महावीर के पश्चात् गौतम, सुधर्म एवं जम्बूस्वामी ने ६२ वर्ष तक धर्म प्रचार किया । इनके पश्चात् विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन तथा भद्रबाहु १०० वर्षों में पंचश्रुत केवली ने ज्ञानदीप को

प्रज्वलित किया । तदनन्तर दशपूर्व धारक विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिलिंग, देव एवं धर्मसेनाचार्य ने १८३ वर्षों तक श्रुत का प्रवचन किया । अनन्तर एकादशांग (११ अंग) धारक नक्षत्र, जयपाल, पाण्डव, ध्रुवसेन एवं कंसाचार्यों ने १२३ वर्षों तक श्रुत परम्परा का प्रचार किया । दशांग के ज्ञाता शुभचन्द्राचार्य, नव अंग ज्ञाता यशोभद्र तथा अष्टांग के ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु ने ४७ वर्षों तक अंगज्ञान का प्रवचन किया । इस प्रकार नन्दि संघ-बलात्कार गण-सरस्वतीगच्छ की पट्टावली में उल्लेख किया गया है । अतः उपर्युक्त पट्टावल्याधार पर ग्रन्थ प्रवाह आचार्य भद्रबाहु से प्रवाहित हुआ ।

उत्तर-परम्परा :

त्रयनाम धारी आचार्य अर्हद्बलि द्वारा स्थापित नन्दि संघ में आचार्य माघनन्दि, पंचनाम धारक कुन्दकुन्द, उमास्वामी, लोहाचार्य-३, यशकीर्ति, यशोनन्दि, देवनन्दि, जयनन्दि, गुणनन्दि, वज्रनन्दि-१, कुमारनन्दि, लोकचन्द्र, प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र-१, भानुनन्द्र, सिंहनन्दि, वसुनन्दि,१, वीरनन्दि-१, रत्ननन्दि, माणिक्यनन्दि-१, मेघचन्द्र, शान्तिकीर्ति एवं मेरुकीर्ति इत्यादि आचार्यों का उल्लेख है ।

पुन्नाट संघ में आचार्य लोहाचार्य, विनयंधर, गुप्तिश्रुति, गुप्तिऋद्धि, शिवगुप्त, अर्हद्बलि, मन्दार्य, मित्रवीर, बलदेव, मित्रक, सिंहबल, वीरवित, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ती, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, धरसेन, (श्रुतावतार से भिन्न) सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिसेन, ईश्वरसेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, भीमसेन, जिनसेन, शान्तिसेन-१, जयसेन, अमितसेन, कीर्तिषेण एवं जिनसेन आदि आचार्य श्रेष्ठ हुए ।

नन्दि संघ पट्टावली-**१. भद्रबाहु (द्वितीय), २. गुप्तिगुप्त (२६),** ३. माघनन्दी (३६), ४. जिनचन्द्र (४०), ५. कुन्दकुन्दाचार्य (४९), ६. उमास्वामी (१०१), ७. लोहाचार्य (१४२), ८. यशकीर्ति (१५३), ९. यशोनन्दी (२११), १०. देवनन्दी (२५८), ११. जयनन्दी (३०८), १२. गुणनन्दी (३५८), १३. वज्रनन्दी (३६४), १४. कुमारनन्दी (३८६), १५. लोक चन्द (४२७), १६. प्रभाचन्द्र (४५३), १७. नेमचन्द्र (४७८), १८. भानुनन्दी (४८७), १९. सिंहनन्दी (५०८), २०. वसुनन्दी (५२५), २१. वीरनन्दी (५३१), २२. रत्ननन्दी (५६१), २३. माणिक्यनन्दी (५८५), २४. मेघचन्द्र (६०१), २५. शान्तिकीर्ति (६२७), और २६. मेरुकीर्ति (६४२) उपर्युक्त २६ आचार्य प्रवर दक्षिण देशस्थ भद्दिलपुर के पट्टाधीश हुए ।

उज्जयिनी के सूरि पट्टधर:

२७. महाकीर्ति (६८६), २८. विष्णुनन्दी (७०४), २९. श्रीभूषण (७२६), ३०.

शीलचन्द्र (७३५), ३१. श्रीनन्दी (७४९), ३२. देशभूषण (७६५), ३३. अनन्तकीर्ति (७६५), ३४. धर्मनन्दी (७८५), ३५. विद्यानन्दी (८०८), ३६. रामचन्द्र (८४०), ३७. रामकीर्ति (८५७), ३८. अभयचन्द्र (८७८), ३९. नरचन्द्र (८९७), ४०. नागचन्द्र (९१६), ४१. नयनन्दी (९३९), ४२. हरिनन्दी (९४८), ४३. महीचन्द्र (९७४) एवं ४४. माघचन्द्र (९९०) का नामोल्लेख हुआ है ।

चन्देरी (बुन्देलखण्ड) के पट्टधरः

४५. लक्ष्मीचन्द्र (१०२३), ४६. गुणनन्दी (१०३७), ४७. गुणचन्द्र (१०४८), ४८. लोकचन्द्र (१०६६) का विवरण है ।

भेल (भूपाल सी. पी.) के पट्टधर :

४९. श्रुतकीर्ति (१०७९), ५0. भावचन्द्र (१०९४), ५१. महाचन्द्र (१११५), ५२. माघचन्द्र (११४०) आचार्य माने गए हैं ।

इनमें से एक आचार्य कुण्डलपुर (दमोह) के पट्टाधीश हुए ।

बारां (कोटा) के पट्टाधीश :

५३. ब्रह्मनन्दी (११४४), ५४. शिवनन्दी (११४८), ५५. विश्वचन्द्र (११५५), ५६. हृदिनन्दी (११५६), ५७. भावनन्दी (११६०), ५८. सूरकीर्ति (११६७), ५९. विद्याचन्द्र (११७०), ६०. सूरचन्द्र (११७६), ६१. माघनन्दी (११८४), ६२. ज्ञाननन्दी (११८८), ६३. गंगकीर्ति (११९९), ६४. सिंहकीर्ति (१२०६) हुए हैं ।

ग्वालियर के पट्टाधीशाचार्य :

६५. हेमकीर्ति (१२०९), ६६. चारुनन्दी (१२१६), ६७. नेमिनन्दी (१२२३), ६८. नाभिकीर्ति (१२३०), ६९. नरेन्द्रकीर्ति (१२३२), ७०. श्री चन्द्र (१२४१), ७१. पद्म (१२४८), ७२. वर्द्धमानकीर्ति (१२५३), ७३. अकलंक चन्द्र (१२५६), ७४. ललित चन्द्र (१२५७), ७५. केशव चन्द्र (१२६१), ७६. चारूकीर्ति (१२६२), ७७. अभयकीर्ति (१२६४), ७८. बसन्तकीर्ति (१२६४) ।

इन १४ आचार्यों का उल्लेख इण्डियन ऐण्टिक्वेरी के अनुसार ग्वालियर है किन्तु वसुनन्दी श्रावकाचार में उक्त १४ आचार्य चित्तौड़ में होना लिखा है, किन्तु चित्तौड़ पट्टधर की पट्टावली अलग है जिनमें ये उपरोक्त नाम नहीं पाये जाते हैं । सम्भवतया ये पट्ट ग्वालियर में हों ।

अजमेर पट्टधर आचार्य :

७९. प्रख्यात कीर्ति (१२६६), ८०. शुभकीर्ति (१२६८), ८१. धर्मचन्द्र (१२७१),

८२. रत्नकीर्ति (१२९६), ८३. प्रभाचन्द्र (१३१०) ।

दिल्ली के पट्टाधीश-

८४. पद्मनन्दी (१३८५), ८५. शुभचन्द्र (१४५०), ८६. जिनचन्द्र (१५०७) ।

उपरोक्त उल्लेखित आचार्यों के पश्चात् पट्ट दो भागों में विभक्त हो गया ।

प्रथम चित्तौड़ पट्टाधीश :

८७. प्रभाचन्द्र (१५७१), ८८. धर्मचन्द्र (१५८१), ८९. ललितकीर्ति (१६०३), ९०. चन्द्रकीर्ति (१६२२), ९१. देवेन्द्रकीर्ति (१६६२), ९२. नरेन्द्रकीर्ति (१६९१), ९३. सुरेन्द्रकीर्ति (१७२२), ९४. जगत्कीर्ति (१७३३), ९५. देवेन्द्रकीर्ति (१७७०), ९६. महेन्द्र कीर्ति (१७९२), ९७. क्षेमेन्द्र कीर्ति (१८१५), ९८ सुरेन्द्र कीर्ति (१८२२) ९९ सुखेन्द्र कीर्ति (१८५९) १०० नयनकीर्ति (१८७९), १०१. देवेन्द्रकीर्ति (१८८३), एवं १०२. महेन्द्र कीर्ति (१९३८)॥

द्वितीय नागोर पट्टाधीश पट्टावली :

१. रत्नकीर्ति (१५८१), २. भुवनकीर्ति (१५८३), ३. धर्मकीर्ति (१५९०), ४. विशाल कीर्ति (१६०१), ५. लक्ष्मीचन्द्र ६. सहस्त्रकीर्ति, ७. नेमिचन्द्र, ८. यशकीर्ति, ९. भुवनकीर्ति, १०. श्रीभूषण, ११. धर्मचन्द्र, १२. देवेन्द्रकीर्ति, १३. अमरेन्द्रकीर्ति, १४. रत्नकीर्ति, १५. ज्ञानभूषण, १६. चन्द्रकीर्ति, १७. पद्मनन्दी, १८. सकलभूषण, १९. सहस्त्रकीर्ति, २०. अनन्तकीर्ति, २१. हर्षकीर्ति, २२. विद्याभूषण एवं २३. हेमकीर्ति। यह आचार्य १९१० माघ शुक्ला द्वितीया सोमवार को पट्ट पर स्थापित हुए ।

तत्पश्चात् क्षेमकीर्ति, मुनीन्द्रकीर्ति और कनककीर्ति पट्टासीन हुए। इस प्रकार इण्डियन एन्टीक्वेरी के आधार पर नंदिसंघ परम्परा का नामोल्लेख किया गया ।

इसी प्रकार शुभचन्द्र आचार्य (प्रथम) ने भी गुर्वावलि का उल्लेख किया है। सो वह निम्न प्रकार है-

१. भद्रबाहु २. गुप्तिगुप्त (त्रयनामधारक) ३. माघनन्दी ४. जिनचन्द्र ५. पद्मनन्दी (कुन्दकुन्दाचार्य) ६. उमास्वामी ७. लोहाचार्य आदि आचार्य हैं ।

८. यशःकीर्ति ९. यशोनन्दी १०. देवनन्दी-पूज्यपाद (अपरनाम गुणनन्दी) ११. तार्किक शिरोमणि वज्रनन्दी १२. कुमारनन्दी १३. लोकचन्द्र १४. प्रभाचन्द्र १५. नेमिचन्द्र १६. सिंहनन्दी १७. वसुनन्दी १८. वीरनन्दी १९. रत्ननन्दी २०. माणिक्यनन्दी २१. मेघचन्द्र २२. शान्तिकीर्ति २३. मेरुकीर्ति २४. महाकीर्ति २५. विश्वनन्दी २६. श्रीभूषण २७. शीलचन्द्र २८. श्रीनन्दी २९. देशभूषण ३०. अनंतकीर्ति ३१. धर्मनन्दी

३२. विद्यानन्दी ३३. रामचन्द्र ३४. रामकीर्ति ३५. अभयचन्द्र ३६. नरचन्द्र ३७. नागचन्द्र ३८. नयनन्दी ३९. हरिश्चन्द्र (हरिनन्दी) ४०. महीचन्द्र ४१. माधवचन्द्र ४२. लक्ष्मीचन्द्र ४३. गुणकीर्ति ४४. गुणचन्द्र ४५. वासवेन्दु (वासवचन्द्र) ४६. लोकचन्द्र ४७. श्रुतकीर्ति ४८. भानुचन्द्र ४९. महाचन्द्र ५०. माघचन्द्र ५१. ब्रह्मनन्दी ५२. शिवनन्दी ५३. विश्वचन्द्र ५४. हरनन्दी ५५. भावनन्दी ५६. सुरकीर्ति ५७. विद्यानन्द ५८. सूरचन्द्र ५९. माघनन्दी ६०. ज्ञाननन्दी ६१. गंगनन्दी ६२. सिंहकीर्ति ६३. हेमकीर्ति ६४. चारूकीर्ति ६५. नेमिनन्दी ६६. नामकीर्ति ६७. नामकीर्ति ६८. नरेन्द्रकीर्ति ६९. श्री चन्द्र ७०. पद्मकीर्ति ७१. वर्द्धमान कीर्ति ७२. अकलंकचन्द्र ७३. ललितकीर्ति ७४. त्रैविद्यविद्याधीश्वर केशवचन्द्र ७५. चारूकीर्ति ७६. अभयकीर्ति ७७. वसन्तकीर्ति ७८. शुभकीर्ति ७९. धर्मचन्द्र ८०. रत्नकीर्ति ८१. रत्नकीर्ति ८२. पूज्यपाद ८३. प्रभाचन्द्र ८४. पद्मनन्दी ८५. सकलकीर्ति ८६. भुवनकीर्ति ८७. ज्ञानभूषण ८८. विजयकीर्ति ८९. शुभचन्द्र ९०. सुमतिकीर्ति ९१. गुणकीर्ति ९२. वादिभूषण ९३. रामकीर्ति ९४. यशःकीर्ति ९५. पद्मनन्दी ९६. देवेन्द्रकीर्ति ९७. क्षेमकीर्ति ९८. नरेन्द्रकीर्ति ९९. विजयकीर्ति १००. नेमिचन्द्र १०१. चन्द्रकीर्ति ।

इसप्रकार शुभचन्द्राचार्य (प्रथम) ने अपनी वंशावली का स्मरण करते हुए सारस्वत गच्छ के कर्ता आचार्य पद्मनन्दी (कुन्दकुन्दाचार्य) को स्मरण एवं वंदन किया है ।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार भगवान महावीर के ४७० वर्ष बाद विक्रम राजा का जन्म हुआ । विक्रम राजा के दो वर्ष बाद सुभद्र एवं सुभद्र के २ वर्ष बाद भद्रबाहु स्वामी पट्टधर हुए । इन्हीं भद्रबाहु के श्रेष्ठ शिष्य गुप्तिगुप्त यति माने गये हैं । इनके तीन नाम हैं- गुप्तिगुप्त, अर्हद्बली, विशाखाचार्य ।

गणधर पट्टावली में आपको अर्हद्बली के नाम से स्मरण किया है यथा :

लोहाचार्यं पुरापूर्वज्ञानं चक्रधरं नमः ।

अर्हद्बलिं भूतबलिं माघनन्दि नमुत्तमम् ॥७॥ ग.प.

अर्थात् लोहाचार्य पूर्व ज्ञान के धारक आचार्य हुए । अर्हद्बलि भूतबलि माघनन्दि को नमन करता हूँ ॥७॥

शुभचन्द्राचार्य प्रथम ने गुप्तिगुप्त का इसी प्रकार कथन किया है । यथा:

श्रीमान् शेष नरनायकः वन्दिताङ्घ्रीः श्री गुप्तिगुप्त (१) इति विश्रुति नामधेयः यो भद्रबाहु (२) मुनिपुंङ्, गव-पट्टपद्मः सूर्यः स वो दिशतु निर्म्मल संघ वृद्धिम् ॥१॥ श्रु. प.

अर्थात् समस्त राजाओं से पूजित पादपद्म वाले मुनिवर भद्रबाहु स्वामी के पट्ट कमल का उद्योत करने में सूर्य के समान श्री गुप्तिगुप्त मुनि पुंगव आप लोगों को शुभ संगति दें ॥१॥

नन्दीसंघ-बलात्कारगण-सरस्वती गच्छ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार आचार्य अर्हद्बलि के नाम से भाष्य है । यथा:

पंचसये, पणसट्ठे अंतिम-जिण-समय-जादेसु ।

उप्पण्णा पंच जणा इयंगधारी मुणेयव्वा ॥१५॥

अहिवल्लि माघणंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबली ।

उडवीसं इगवीसं उगणीसं तीस वीस वास पुणो ॥१६॥

अर्थात् श्रीवीर निर्वाण के ५६५ वर्ष पश्चात् एक अंग के धारी पांच मुनि हुए । २८ वर्षों बाद तक अहिबलि (अर्हद्बली) आचार्य, २१ वर्षों तक माघनन्दि, १९ वर्षों तक धरसेनाचार्य, ३० वर्षों तक पुष्पदंत आचार्य तथा २० वर्षों तक भूतबली आचार्य हुए हैं।

नयसेनाचार्य ने धर्मामृत के प्रारम्भ पद्य में गुरु-परम्परा के उल्लेख में अर्हद्बलि के नाम से स्मरण किया है । इस प्रकार अष्टांग ज्ञान के धारक आचार्य भद्रबाहु के शिष्य त्रयनामधारी आचार्य गुप्तिगुप्त हैं अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में गुप्तिगुप्त यति ने ज्येष्ठ आचार्य भद्रबाहु को नमस्कार करके संयम प्रतिष्ठापना हेतु प्रश्न किया । यथा :

सिरि भद्दबाहुसामिं णमसित्ता गुत्तिगुत्त मुणिणाहिं ।

परिपुच्छियं पसत्थं अट्ठं पइट्ठावणं जइणो ॥२॥

इन्हीं आचार्य श्रेष्ठ द्वारा चतुर्विध (नन्दी, वृषभ, सिंह तथा देव) संघ की स्थापना की गयी ।

जैनेन्द्रवर्णी के जैनेन्द्रसिद्धान्त में अर्हद्बलि आचार्य द्वारा अपराजित संघ, गुणधर संघ, गुप्त संघ, चन्द्रसंघ, नन्दिसंघ, पुन्नाट संघ, भद्रसंघ, वीर संघ, सिंह संघ तथा सेन संघ आदि की प्रतिष्ठापना वीर निर्वाण संवत् ५९३ में हुई ऐसा उल्लेख है ।

आचार्य अर्हद्बलि पांच वर्ष के अन्त में १०० योजन में बसने वाले सभी मुनियों को एकत्रित करके युग प्रतिक्रमण किया करते थे । एक बार युग प्रतिक्रमण के समय आगत सर्व मुनिगणों से पूछा कि क्या सभी मुनि आ गये ? तब उन्होंने उत्तर दिया- हाँ भगवन् ! हम सभी अपने- अपने संघ सहित आ गये । यह श्रवण कर आचार्य ने विचार किया कि अब जैन धर्म गण पक्षपात के सहारे ठहर सकेगा । उदासीन भाव से नहीं । तब उन्होंने अनेक संघों की स्थापना की जिनका नाम मात्र उपरोक्त उल्लिखित किया है।

अतः भद्रबाहु आचार्य का अस्तित्व श्रुतावतार, सरस्वत्यावतार डॉ. नेमिचन्द, प्रेमीजी, डॉ. विद्याधर जोहरपुरकर तथा डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल के आधार पर ईसवी शताब्दी के ३५ वर्ष पूर्व था ।

क्रियासार की विषय वस्तु :

समस्त क्रियाओं के सार स्वरूप आचार्य प्रवर ने संयम को स्थान दिया है । पूर्वाचार्यों ने संयम का लक्षण इस प्रकार दिया है :

सम्यक् यमो वा नियमः ध. ७/२, १, ३/७/३

अर्थात् सम्यक प्रकार से यम/नियन्त्रण सो संयम है ।

संयमन करने को संयम कहते हैं तात्पर्य भाव संयम सहित द्रव्य संयम, संयम कहा है । अन्यथा नहीं । पूर्वाचार्यों ने संयम के अनेक भेद किये हैं । उनमें प्रथम व्यवहार संयम एवं द्वितीय निश्चय संयम ।

व्यवहार संयमः

पंच समिदि तिगुत्तो पंचेंदिय संवुडो जिदकसाओ

दंसणणाण समग्गो समणोसो संजदो भणिदो ॥२४०॥ प्र. सा.

अर्थात् पांच समिति सहित पांच इन्द्रियों के संवर (गोपन करने) वाला, तीन गुप्ति सहित कषायों को जीतने वाला एवं दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण जो श्रमण है वह संयत (संयम) कहा जाता है ।

वदसमिदि कसायाणं दंडाणं इंदियाणं पंचण्हं ।

धारण-पालण-णिग्गह-चायजओ संजमो भणिओ ॥१२७॥ पं.सं.

अर्थात् पांच महाव्रत को धारण करना, पांच समिति का पालन करना, कषायों (२५ अथवा ४) का निग्रह करना, मन, वचन, काय रूप तीनों दण्डों का त्याग करना, तथा पांच इन्द्रियों का जीतना (सो) वह संयम कहा गया है । बाह्य आभ्यंतर परिग्रह का त्याग, त्रियोग-रूप व्यापार से निवृत्ति सो अनारंभ, इन्द्रिय विषयों से विरक्तता, कषाय का क्षय यह सामान्यतः संयम का लक्षण कहा है । विशेषतया प्रव्रज्या अवस्था में होता है ।

पंच महाव्रतादि का धारण पालनादि करना व्यवहार से संयम कहलाता है जो कि पुण्योपार्जन क्रिया कहलाती है ।

निश्चय संयम :

समस्त छह जीव निकाय के घात करने, पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषयाभिलाषा से पृथक

होकर आत्म के शुद्ध स्वरूप में लीन होने से जीवात्मा संयम युक्त होता है ।

शुद्ध स्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च ॥११२७॥ पं.ध्

अर्थात् निष्क्रिय आत्मा के स्वशुद्धात्मा की उपलब्धि ही संयम कहलाता है ।

सकलदेश एवं विकल देश, प्राणि तथा इन्द्रिय संयम के भेद से संयम २-२ भेदों वाला कहा गया है । चारित्र पाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने "दुविहं संजमचरणं सायार तह हवे णिरायारं" अर्थात् सागार और अनगार इस प्रकार दो प्रकार के संयम का उल्लेख किया हैं। इसी प्रकार मूलाचार में आचार्यश्रेष्ठ ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पति तथा दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रय एवं पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा करने को प्राणी संयम कहा है । स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण ये पांच इन्द्रियाँ एवं छठे मन को संयमित रखने को इन्द्रिय संयम कहा है ।

क्रियासार ग्रन्थ में संयम की स्थापना के निरूपण को ही बल दिया गया है । जिसमें सर्व संघ हितकारक सूरि पद स्थापना का मूल रूपेण उल्लेख है ।

क्रियासार में वर्णित विषय :

यह ग्रन्थ ८० गाथाओं से सूत्रबद्ध है । जिसमें प्रारम्भ में देवेन्द्रों से वन्दित श्री वीर जिनेन्द्र को नमस्कार किया गया है, तत्पश्चात् सिद्धक्षेत्र गिरनार शिखर पर स्थित श्रुत सागर के पारगामी श्री भद्रबाहु स्वामी को सर्वसंघ सानिध्य में नमस्कार करते हुए संयम एवं सूरि पद की स्थापना के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है ।

तदनन्तर संयम की स्थापना हेतु आचार्य दीक्षा का सावयव पूर्णरूपेण प्रावधान है । इस ग्रन्थ में क्रियाओं के सार स्वरूप एकमात्र संयम की स्थापना से सम्बन्धित जिनदीक्षा एवं आचार्यपद धारण करने की पात्र-अपात्रता (योग्यायोग्यता), दीक्षा के पूर्व स्वभाव, आचार-विचार का वर्णन, दीक्षा के पूर्व की प्राथमिक क्रिया, दीक्षा योग्य काल समय-क्षेत्र (स्थान) का परिमाण एवं शुद्धि विधान, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, लग्नबला-बल का विशेष वर्णन आचार्य प्रवर ने किया है तत्पश्चात् दीक्षा प्रदान विधि का वर्णन उल्लिखित है । वर्णित विषयों में एक महत्वपूर्ण विषय का भी उल्लेख किया है जिसमें यदि परगण अर्थात् अन्य संघ का शिष्य यदि आचार्य पद के योग्य अथवा प्रार्थनीय हो तो संघ के सानिध्य में आचार्य प्रथमावस्था में परगण के शिष्य के आचार-विचार आदि प्रवृत्तियों को पूर्णरूपेण अवलोकन करता हुआ पुनः चतुर्विध संघ सानिध्य में नामकरण करता है और अपने संघ में आचार्य के रूप में स्वीकार करता है । भगवती आराधना में आचार्य अमितगति लिखते हैं कि आने वाले मुनि की आचार्य एवं संघस्थ विशिष्ट यति द्वारा परीक्षा की जाती है वह कैसे की जाती है ? तब आचार्यश्री समाधान करते हैं कि-

आवासय ठाणादिसु पडिलेहण वयण गहण णिक्खेवे ।
सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥४१४॥ भ.आ.

अर्थात् आवश्यक स्थान आदि में, प्रतिलेखन, वचन, ग्रहण, निक्षेप, स्वाध्याय, विहार एवं भिक्षाग्रहण में परीक्षा करते हैं ।

"आगन्तुको यतिगुरुमुपाश्रित्य सविनयं संघाटक दानेन भगवन्ननु ग्राह्योऽस्मीति विज्ञापनं करोति। ततो गणधरेणापि समाचारज्ञो दातव्यः संघाटक इति निगदति" भ.आ.पृ. ३१७

अर्थात् आने वाला यति गुरु के समक्ष विनय सहित निवेदन करता है कि भगवन् सहाय्य प्रदान कर मुझ पर अनुग्रह करें । उसके पश्चात् आचार के ज्ञाता आचार्य भी उस आगन्तुक यति को सहायता देते हैं ।

इस प्रकार परगणस्थ शिष्य को योग्य जानकर चतुर्विध संघ सानिध्य में नामकरण करता है और अपने संघ में स्वशिष्य के रूप स्वीकार करता है तथा संघ भी नवीन शिष्य को सहधर्मी के रूप में घोषणा करता है ।

नवीन यति के लिए आचार्य प्रवर ने निर्देश किया है कि वह संघ के आचार-विचार आदि धर्मानुकूल वचन क्रिया आदि को करे तथा संघ प्रतिकूल वचन, क्रिया एवं प्रवृत्तियों के करने का निषेध किया है अर्थात् न करें । एक खास बात ग्रन्थकार ने आचार्य पद के योग्य मुनि, आचार्य पद प्रतिष्ठा का मुहूर्त तथा आचार्य पद प्रदान करने के सम्बन्ध में सम्पूर्ण योग्य क्रियाओं पर अच्छी तरह भलीभांति प्रकाश डालकर इस ग्रन्थ की विशेषता को और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है । अन्तिम ७८ वे सूत्र में "अज्जावि होई पिच्छि करा" शब्द देकर अर्जिका भी पिच्छी को धारण करने वाली होती है ऐसा निर्देश किया है । आर्यिका को भी मुनि के समान पिच्छी धारण करना यह प्रत्येक परिस्थिति में अनिवार्य है यह क्रियासार ग्रन्थ का प्रवाह धारा निरन्तर चला आ रहा है । मूलग्रंथ के संग्रहकर्ता आचार्य गुप्तिगुप्त हैं, जिनके द्वारा विविध संघों की स्थापना धर्म एवं संयम रक्षार्थ हुई थी । इन्हीं ने आचार्य भद्रबाहु स्वामी को नमस्कार करके संयम प्रतिष्ठापना हेतु प्रश्न किया था । जिसका समाधान ८० गाथाओं के रूप में सूत्रबद्ध किया गया है ।

यति प्रतिष्ठापन के अन्तर्गत ग्रन्थ संग्रहकर्ता आचार्य गुप्तिगुप्त ने महामह गणधर वलय पूजा, नवग्रहशान्ति, सर्व उपद्रव शान्ति तथा संघ शान्ति हेतु शान्ति वाचन करने का निर्देश दिया है तथा अन्त में संयम स्थापना विधि करने, करवाने वाले को आचार्य प्रवर ने शीघ्र मुक्ति का कारण बतलाकर ग्रन्थ को इति श्री की है ।

उद्देश्य :

ग्रन्थ प्रकरण से जिनदीक्षा पूर्णरूपेण निराबाध रूप से धाराप्रवाह के रूप में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो तथा टीकाकार से जिनदीक्षा को ग्रहण व प्रदान करते समय विधिवत् सम्पूर्ण आवश्यक क्रियाओं का पालन किया जाय, जिससे की संयम स्थापना व सूरि पद प्रतिष्ठा के पश्चात् संयम में बाधा, संघ में गिरावट एवं हीनता का प्रादुर्भाव न हो । जिससे संघाटक संयम एवं संयम धारणकर्ता का किसी भी प्रकार से अहित न हो ॥

आवश्यकता :

आवश्यक सम्पूर्ण क्रियाओं के अभाव या हीनता में संघ, धर्म, संयम एवं मुमुक्षु भव्य जीव की हानि होती है ।

अतः आवश्यक है कि दीक्षा दाता पूर्व में सर्वत्र अवलोकन करके सावयव विधिपूर्वक जिनदीक्षा (संयम स्थापना) प्रदान करें ।अन्यथा स्वयं एवं क्रिया विहीन दीक्षा जिनशासन में मान्य नहीं ।

क्रियासार की आवश्यकता:

संसार में अनेक प्रकार की क्रियाएं विद्यमान हैं ।जिसके द्वारा संसारी आत्माएं कर्मों की निर्जरा क्रमशः कर्मों का अभाव, कर्मों का आस्रव, कर्मों का बंध करती हैं । अनेक विध क्रिया समूहों में दान-पूजादि पुण्य क्रियाएं पुण्य को प्रदान करने वाली तथा हिंसा-झूठ आदि पापों की क्रियाएं पाप को प्रदान करने वाली हैं, किन्तु उन्हीं क्रियाओं के मध्य से उत्पन्न होते हुए कमल पुष्प की समानता को धारण करने वाली-विधि विधान की विशेषता को लिये हुए संयम की प्रतिष्ठापना क्रिया है जिसकी समानता जगति-तल पर किसी क्रिया के द्वारा नहीं की जा सकती है ।जिसको संसारी जन आश्चर्य की दृष्टि से देखते हैं । वह संयम अलौकिक है, लौकिक जनों की दृष्टि एवं शक्ति से बाह्य है । वह संयम अप्रमेय है, जिसका परिमाप अनंत होने से असंभव है । वह संयम उपमा से रहित अनुपम है तथा वह संयम मुक्ति सुख को प्रदान करने वाली होने से अनन्त सुखों की खान है ।इसप्रकार ऐसे अनुपम परमोपकृष्ट संयम की सर्वांग अवयव सहित स्थापना के होने से ही मुमुक्षुजनों के लिए अति आवश्यक ग्रंथ की रूप रेखा का चित्रांकन अनिवार्य है ।इसी मुक्ति दायक संयम स्थापना के लक्ष्य से ही क्रिया सार ग्रन्थ को प्रकाशित किया ऐसा प्रतीत होता है ।तभी आचार्य गुप्तिगुप्त ने संघ के हित के लिए सम्पूर्ण संघ की साक्षी पूर्वक निज गुरू को नमन - वंदन करते हुए प्रश्न किया ॥

यहाँ समस्त क्रियाओं के सार स्वरूप संयम को प्रधानता दी है ।

ग्रन्थ रचना काल :

क्रियासार ग्रन्थ के प्रकाशक आचार्य भद्रबाहु हैं एवं ग्रन्थ के लिपिकार आचार्य गुप्तिगुप्त हैं । भद्रबाहु आचार्य का कार्यकाल उपरोक्त प्रमाणाधार पर वीर निर्वाण के ४९२ वर्ष पश्चात् माना गया है । इन्हीं के पश्चात् आचार्य गुप्तिगुप्त संघ (गण) को धारण करने वाले गणधर हुए ।

अहिवल्लि माघणंदि धरसेणं पुप्फयंतं भूदवली ।

अडवीसं इगवीसं उगणीसं तीस वीस वास पुणो ॥ प्रा.प.

अर्थात् अर्हद्वलि (गुप्तिगुप्त), माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य का कार्य काल २८, २१, १९, ३० एवं २० वर्ष है । इस उल्लेख से गुप्तिगुप्त का समय ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी तथा वीर निर्वाण की छठी शताब्दी होना चाहिए ।

इन्द्रनन्दि श्रुतावतार के अनुसार अंगज्ञानी आचार्योपरांत विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हद्वलि एवं माघनन्दि, आचार्यों के नाम प्राप्त होते हैं ।

जिनसेन के हरिवंश पुराण में अंगज्ञानी आचार्यों के बाद २५ आचार्यों के नामोल्लेख हैं। इनमें से प्रथम चार विनयधर, गुप्तऋषि, शिवगुप्त एवं अर्हद्वलि हैं । ये आचार्य वीर निर्वाण की सातवी सदी के धरसेन आदि के समकालीन माने जा सकते हैं। उपरोक्त नामावली से इन नामावलि के साथ काफी समानता है ।

डॉ. जौहरापुरकर के आधार पर आचार्य अर्हद्वलि (गुप्तिगुप्त) पुष्पदन्त एवं भूतबलि के गुरु थे ।

इस तरह उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर क्रियासार ग्रन्थ का रचनाकाल ईसवी की प्रथम शताब्दी तथा वीर निर्वाण की छठी सातवीं शताब्दी के समकालीन होता है ।

उपसंहार :

डॉ. उदयचन्द्र जैन, उदयपुर प्राकृत के मूर्धन्य विद्वान हैं । उनका मार्गदर्शन ही क्रियासार के टीका को नया आयाम दे सका है । इस ग्रन्थ की टीका श्री १००८ अतिशय बली श्री पार्श्वनाथ जिनालय में ही प्रारम्भ कर पूर्ण की ।

आपने संकेत किया हैं। यह ग्रन्थ महान है इसके सम्पादन, संशोधन, अनुवादन एवं मुद्रण में भूल रहना स्वाभाविक है अतः विद्वतगण स्वाभाविक भूल-सुधार कर पढ़ें एवं हमें सूचित करें ।

ग्रन्थ प्रकाशन का त्वरित कार्य गुरूवर्य परमपूज्य बा. ब्र. प्रातःस्मरणीय राष्ट्रसन्त, निमित्त ज्ञान शिरोमणी, वात्सल्य रत्नाकर, साहित्य दिवाकर, धर्मतीर्थ प्रवर्तक, स्याद्वाद केसरी, भारत गौरव, चारित्रोपासक, मेवाड़ सपूत गणधराचार्य १०८ श्री कुन्थुसागरजी महाराज की असीम कृपा एवं आशीर्वाद से ही सब कुछ साध्य हो पाया है । गुरू कृपा ही अलौकिक होती है । उनके चरण कमलों में शतशः शतशः सादर विनय वन्दन करता हुआ अपनी लेखनी को विराम देता हूं ।

सन्तजनों का अनुचर

उपाध्याय मुनि सुरदेव सागर

मंगलवार, चैत्र वदी पंचमी,

वी. नि. सं. २५२२, २१, मार्च, १९९५

टीका में प्रयुक्त ग्रन्थ नामावलि

(1) योगसार-निसंग योगि अमितगति आचार्य

(3) प्रवचनसार-कुन्दकुन्द आचार्य

(4) मूलाचार-कुन्दकुन्द आचार्य

(5) महापुराण-आचार्य जिनसेन

(6) प्रायश्चित्त चूलिका-गुरुदासाचार्य

(7) मेरु मन्दर पुराण-वामनाचार्य

(8) धवला पु-

(9) व्रत तिथिनिर्णय-सिंहनद्याचार्य

(10) पंचविंशतिका-पद्मनन्दि आचार्य

(11) मूलाराधना/भगवती आराधना-आ. शिवकोटि

(12) आचारसार-आचार्य वीरनन्दि

(13) लग्न चन्द्रिका-पं. राम बिहारी

(14) भारतीय ज्योतिष-नेमिचन्द सिद्धान्तशास्त्री

(15) समयसार-आ. कुन्दकुन्द

(16) लोक विभाग- सिंह सूरर्षि

(17) प्रतिष्ठा तिलक-नेमिचन्द्र आचार्य

(18) प्रतिष्ठा सारोद्धार-पं. आशाधर

(19) दान शासन-म. वासुपूज्य

(20)जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

(21) सुभाषित रत्न सन्दोह- आ. अमित गति

(22) गणधर वलय पूजा

(23) धर्मामृत - पं. आशाधर

पणमिय वीर जिणिंद तियसिंदणमंसियं विमलणाणं ।
वोच्छं परमत्थ-पदं जंगम पइट्ठायण सुद्धं ॥१॥

अन्वयार्थ-(तियसिंद) देवपति इन्द्र के द्वारा (पणमिय) वंदनीय (वीर जिणिंद) वीर जिनेन्द्र को (णमंसियं) नमस्कार करके (जंगम) जीवों की (सुद्ध पइट्ठायण) शुद्ध प्रतिष्ठापना के (परमत्थ पदं) परमार्थ पद रूप (विमलणाणं) विमल ज्ञान को (वोच्छं) कहूंगा ॥१॥

अर्थ-देवेन्द्रों के द्वारा वंदनीय वीर जिनेन्द्र को नमस्कार करके जंगम (संसारी) जीवों की शुद्ध प्रतिष्ठापना के परमार्थ पद स्वरूप निर्मल विशुद्ध ज्ञान को कहूंगा ॥१॥

विशेष-जंगम जीवों की शुद्ध प्रतिष्ठा-अर्थात् यहां पर आचार्य प्रवर (ग्रन्थकार) देव आदि के शत इन्द्रों के द्वारा वन्दनीय,। चतुर्निकाय देवों से वन्दनीय ऐसे परमात्मा महावीर जिन को मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक नमस्कार करके जंगम जीव अर्थात् प्राकृत भाषा में जंगम का तात्पर्य चलने वाला, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता हो उसे जंगम जीव कहा है । शास्त्र में "जंगम पइट्ठावणिया" शब्द दिया है जिसका अर्थ स्पष्ट होता है कि जो जीव कर्मों के आवरण से संयुक्त है जिसके उदय में जीव एक पर्याय से दूसरे पर्याय में, एक लोक से दूसरे लोक में, एक भव से दूसरे भव में, एक परमाणु मात्र स्थान से दूसरे परमाणु मात्र स्थान में गमन करता है । ऐसे कर्मावरण सहित, अशुद्ध प्रतिष्ठापना सहित जीवों के शुद्ध अर्थात् निज, आत्मीय उत्पन्न, कर्मावरण से रहित, राग द्वेष मोहादि विकार भावों से रहित शुद्ध आत्मीय प्रतिष्ठापन के अनन्त ज्ञान आदि निज आत्म सम्पत्ति स्वरूप परमपद में स्थित शुद्ध प्रतिष्ठापना को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं। यह शुद्ध प्रतिष्ठा कैसे होती सो कहते हैं-

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्ध-सम्मत्तं ।
सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥११॥ बो. पा.

अर्थात् जो निरतिचार चारित्र का पालन करते हैं जिनश्रुत-जिनागम को जानते हैं, अपने योग्य वस्तु को देखते हैं तथा जिनका सम्यक्त्व शुद्ध है, ऐसे मुनियों का निर्ग्रन्थ शरीर जंगम प्रतिमा है । वह वन्दना करने के योग्य है ।

यहां ग्रन्थकार जंगम प्रतिमा का वर्णन करते हैं कि जो अतिचार रहित चारित्र का पालन करते हैं, अतिचार की व्याख्या धवलाकार ने इस प्रकार की है :-

सुरावाणा-मांस भक्खण-कोह-माणा-माया-मोह-हरस रइ-सोग।
भय-दुगंधित्थि-पुरिस-णवुंसय वेया परिच्चागो अदिचारो ॥

अर्थात् सुरापान, मांस भक्षण, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद इनके परित्याग न करने को अतिचार कहते हैं।

''एदेसिं विणासो णिरदिचारो संपुण्णादा, तस्स भावो णिदिचारदा।''

अर्थात् उपर्युक्त कथित अतिचारों का सर्वथा सम्पूर्णतया विनाश, सर्वथा परित्याग कर देने का नाम निरतिचार है उसके भाव निरतिचार होते हैं ।

इस प्रकार निरतिचार व्रत/चरित्र का पालन करते हैं और द्रव्य एवं भाव द्वयविध श्रुत के ज्ञाता हैं । जो देखने योग्य वस्तु को देखते हैं । जिनका अतिचार रहित सम्यक्त्व है ऐसे निर्ग्रन्थ मुनियों का देह जंगम प्रतिमा कहा है ऐसे यतिगण वन्दना के योग्य, ऐसे यतियों की वन्दना की जाती है ।

यहां आचार्य प्रवर संसारी जीवों की शुद्ध प्रतिष्ठा यानि परमार्थ से आचरण करने योग्य मुनिपद के शुद्ध स्वरूप को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं ॥१॥

शिष्य द्वारा गुरू से पृच्छना:-

सिरि उज्जयंत सिहरे णाणाविह-मुणि अरिंद संपुण्णे ।
चउविह संघेण जुदं सुयसायर पारगं धीरं ॥२॥

सिर भद्दबाहु सामी णमसित्ता गुत्तिगुत्त मुणि णाहिं ।
परिपुच्छिचय पसत्थं अट्ठं पइट्ठावणं जइणो ॥३॥

अन्वयार्थ-(सिरि उज्जयंत सिहरे) श्री उर्जयंत-गिरनार शिखर पर (णाणाविह मुणि अरिदं संपुण्णे) अनेक प्रकार के मुनिन्द्रों से श्रेष्ठ (चउविह संघेण सह) चतुर्विध-(यति, ऋषि, मुनि, अनगार) संघ से संयुक्त/सहित (सुयसायर पारगं) श्रुतसागर के पारगामी (ऐसे) (धीरं) धीर/धैर्यवान (सिरि भद्दबाहु सामी) श्री भद्रबाहु स्वामी को (णमसित्ता) नमस्कार करके (णाहिं) नाभिसम (गुत्तिगुत्त मुणि णाहिं) गुप्तिगुप्त मुनि के द्वारा (जइणो) यतियों के (पसत्थ अट्ठं पइट्ठावणं) प्रशस्त/शुद्ध आठवी प्रतिष्ठापना के सम्बन्ध में (परिपुच्छिचय) प्रश्न पूछा गया ॥२/३॥

अर्थ-श्री उर्जयंत-गिरनार शिखर पर अनेक प्रकार के यतिन्द्रों में श्रेष्ठ चतुर्विध संघ सहित श्रुत सागर-(शास्त्र समुद्र) के परगामी ऐसे धैर्यशाली श्री भद्रबाहु स्वामी को नमस्कार करके नर नाभि सम गुप्तिगुप्त मुनि के द्वारा यतियों के शुद्ध आठ प्रतिष्ठापना के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया ॥२/३॥

विशेष-श्री गिरनार गिरि के शिखर पर स्थित आचार्य भद्रबाहु विराजमान हैं । जो कि जिनागम श्रुत सागर के जानने वाले हैं । उन्हें सम्पूर्ण यति संघ (यति, ऋषि, मुनि, अनगार) के प्रमुख मुनि गुप्तिगुप्त द्वारा गुरु वन्दना की जाती है । और...........

प्रतिज्ञा-

अह पुव्व सूरि मुहकय विणिग्गयं सव्वसाहु-हियकरणं ।
पभणामि सुणह संजम-रिद्धी सिद्धी तुहं होइ ॥४॥

अन्वयार्थ-(अह) इसके बाद (पुव्व सूरि मुहकय) पूर्व आचार्यों के मुख से (विणिग्गयं)विनिर्गत-निकले हुए (सव्व साहु हियकरणं) सम्पूर्ण साधुओं का हित करने वाली आठवीं प्रतिष्ठापन को (पभणामि) कहता हूं (तुहं सुणह) उसे तुम सुनों जिससे तुम्हारे (संजम रिद्दी सिद्धी) संयम की रिद्धी-सिद्धी होती है ॥४॥

अर्थ-इसके बाद पूर्वाचार्यों के मुख से निकले हुए सर्व साधुओं के लिए हित को करने वाली आठ प्रतिष्ठापना को कहता हूं । उसे आप सब श्रवण करें, जिससे संयम की ऋद्धि और सिद्धि होती है ॥४॥

विशेष-यहां आचार्य प्रवर प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं पूर्वाचार्य कथित संयम की वृद्धि और सिद्धि यानि कर्मों का क्षय करने वाली आठ प्रतिष्ठापना को कहने का संकल्प करते हैं । जिसके द्वारा सम्पूर्ण साधु समूह का हित हो, कर्म निर्मूल होते हैं तात्पर्यार्थ इस प्रतिष्ठापना के द्वारा सर्व साधुओं का हित (कर्मों का क्षय एवं संयम की वृद्धि) होता है । यही शास्त्र श्रवण का फल है।

भरहे दूसह समए संघकमं मेल्लिऊण जो मूढो ।
परिवट्टदि गव्विरओ सो सवणो संघ बाहिरओ ॥५॥

अन्वयार्थ-(भरहे दूसह समए) भरत क्षेत्र के दुःसह काल में (संघकमं मेल्लिऊण) संघ क्रम को छोड़कर (जो मूढो) जो मूढ मूर्ख (गव्वरओ) गर्वरत होकर (परिवट्टदि) प्रवृत्ति/आचरण करता है। (सो समणो) वह श्रमण (संघ बाहिरओ) संघ से बाह्य/बाहर है ॥५॥

अर्थ-भरत क्षेत्र के दुःसम पंचम काल में मूलसंघ के अनुक्रम को छोड़कर अभिमानरत् होकर आचरण-विचरण करता है वह मूढ़ है एवं संघ से बाहिर-बहीर्भूत है ॥५॥

विशेष- जो गर्व से गर्वित हो अभिमान के उत्तंग शिखर पर आसीन होकर जिनागम एवं पूर्वाचार्य कथित आचरण को छोड़ता है वही संघ से बहोर्भूत है ऐसा आचार्य

प्रवर का निर्देश है । जिनमार्ग के प्रतिकूल आचरण करने वाले को यहां मूढ़ कह कर सम्बोधित किया गया है । क्योंकि संघ/गुरु कुल की अवहेलना करने वाले को आचार्य महोदय ने *चरित्रवान्, ज्ञानवान् होकर भी चरित्रहीन एवं ज्ञान हीन कहा है* । यथा

गुरु क्रमोल्लंघन तत्परा ये जिन क्रमोल्लंघन तत्परास्ते ।

तेषां न दृष्टि र्न गुरुर्न पुण्यं वृत्त न बंधुर्न एव मूढ़ा ॥१३८॥ दा. शा.

अर्थात् गुरु की परम्परा को जो नर उल्लंघन/अवहेलना करना चाहते हैं अर्थात् गुर्वाज्ञा को नहीं मानते हैं वे जिन भगवान की आज्ञा को ही उल्लंघन करने में तत्पर हैं ऐसा समझना चाहिए । उनमें सम्यक्त्व नहीं है, उनका कोई गुरु नहीं है, उनके पुण्य का बंध नहीं, उनके चारित्र की प्राप्ति नहीं, उनका कोई बन्धु नहीं, विशेष क्या ? वे अपना अहित करने वाले मूढ़जन/मूर्ख हैं ।

और भी आगे कहा है कि जो सर्वज्ञ परम्परा से आए हुए सन्मार्ग को उल्लंघन कर जो आचारण करता है वह धार्मिक मनुष्यों में उत्पाक अर्थात् धर्म का नाशक कहलाता है ।। इस धर्महीन अनादर प्रवृत्ति करने वाले को ही आचार्य परमदेव ने संघबाह्य घोषित किया है ।।५ ।।

गुण हानि वरन विनाश नहीं-

गामा देसा वण्णा, पवणाहय मेहया समणिया ।

पडिसमयं गुणहाणी ण, विणासं दूसमे भरहे ॥६॥

अन्वयार्थ-(गामा देसा वण्णा) गाँव, देश और वर्ण (पवणाहय मेहया) पवनाहत मेघ के समान (पडिसमयं) प्रतिसमय (गुणहाणी) गुणों की तो हानि होती है (किन्तु) (ण विणासं) गुणों का विनाश नहीं होता ।

अर्थ-प्रतिसमय होने वाले गाँव, देश और वर्णों के हनन एवं शमन से भरत क्षेत्र के दु:सम काल में प्रलय के समय गुणों की हानि होती है, किन्तु गुणों का विनाश नहीं होता है ॥

(इति भद्रबाहु कृत यतेः पदस्थापनं)

(इस प्रकार भद्रबाहु द्वारा यतियों के पद की स्थापना पूर्ण)

ज्ञान विहीन जीव की प्रवृत्तिः

णाण-विहुणो, जीवो जिणमग्गं छंडिकण उम्मग्गे ।

वट्टंतो अप्पाणं सावय लोयं पणासेइ ॥७॥

अन्वयार्थ-(णाण विहुणो जीवो) ज्ञान विहीन/अज्ञानी जीव (जिणमग्गं छंडिकण) जिनमार्ग को छोड़कर (उम्मग्गे) उन्मार्ग में (वट्टंतो) वर्तन/प्रवृत्ति करता हुआ (अप्पाणं) अपने/आत्मा के (सावय लोयं) सावय लोक को (पणासइ) प्रणाश/उच्छेद करता है ॥७॥

अर्थ-ज्ञान विहीन जीवन जिनमार्ग को छोड़कर उन्मार्ग में प्रवृत्ति करता हुआ अपने सम्पूर्ण लोक-इहलोक एवं परलोक दोनों लोकों का विनाश करता है ॥७॥

विशेष-ज्ञान से रहित जीवन अज्ञानता के कारण जिन प्रणीत सन्मार्ग को छोड़कर उन्मार्ग-कुमार्ग अथवा मिथ्यामार्ग में प्रवृत्ति-आचरण करता है तो वह अपने इस लोक और परलोक दोनों को बिगाड़ता है अथवा अपना और पर-अन्य लोगों का दोनों का नाश करता है। क्योंकि ज्ञानहीन, विवेकहीन जीव रत्नत्रय से हीन हो जाता है और रत्नत्रय रहित हुआ स्व-पर दोनों घातक होता है । स्वयं का भी अकल्याण करता है और अन्य आश्रित जनों का भी अकल्याण करता है । दूसरे शब्दों में इस लोक में भी निन्दा का पात्र तथा परलोक में भी संगति का बिगाड़ करता है हीनाचार से ॥७॥

अहिंसा की मूर्ति-आचार्य :

जम्हा तित्थयराणं उवएसो सव्व-जीव-दय-करणं ।
आयरिय मुत्तिणूणं तम्हा सो वण्णिओ समये ॥८॥

अन्वयार्थ-(जम्हा) जैसे (तित्थयराणं उवएसो) तीर्थंकरों का उपदेश (सव्व जीव दय करणं) सम्पूर्ण जीवों की दया का कारण है (तम्हा) उसी प्रकार की (आयरिय मुत्ति) साक्षात् मूर्ति आचार्य हैं (सो समये) ऐसा उस समय में (वण्णिओ) वर्णित/वर्णन किया गया ॥८॥

अर्थ-जिस तरह तीर्थंकरों का उपदेश सम्पूर्ण जीव दया का कारण है उसी तरह आचार्य भी प्रत्यक्ष दया की मूर्ति है ऐसा उस समय में वर्णन किया गया है ॥८॥

विशेष-यहां पूर्व में दृष्टान्त के रूप में कहा गया है कि जैसे तीर्थंकर परमदेव का उपदेश सर्वजीव दया का कारण है । जैसाकि कहा है ।

न च हितोपदेशादपरः पारमार्थिकः परार्थः ॥ स.म. ३/१५२२

अर्थात् हित का उपदेश देने के बराबर दूसरा कोई पारमार्थिक-परम अर्थ सिद्धि को देने वाला उपकार नहीं है ।

क्योंकि:

जिण वयण मोसह मिणं, विसय सुह विरेयण अभियभूयं ।
जर मरण वाहि हरणं, खयकरणम सव्व दुक्खाणं ॥ १७ ॥ द. पा.

अर्थ-जिन वचन रूपी औषध विषय सुख का विरेचक, अमृत रूप, जरा मरण की नाशक एवं सर्वदु:खों का क्षय करने वाली है ।

आद पर समुद्धारो आणा वच्छल्ल दीवणा भत्ती ।
होदि परदेसगत्ते अव्वोच्छित्तिय तित्थस्स ॥१११॥ भ.आ.

अर्थात् स्वाध्याय भावना में आसक्त मुनि परोपदेश देकर आत्मा का समुद्धार, जिन वचनों में भक्ती एवं तीर्थ की अव्युच्छित्ति आदि उत्तम गुणों को प्राप्त कर लेता है । उपदेश के द्वारा सर्व जीवों का कल्याण होता है । निज पर कल्याण होता है ।

श्रेतुर्व्याख्यातुश्च असंख्यात गुण श्रेण्या कर्म निर्जरण हेतुत्वात् ॥

ध. १३/५, ५, ५०

अर्थात् क्योंकि व्याख्याता और श्रोता के असंख्यात गुणी रूप से होने वाली कर्म निर्जरा का कारण है ।

उसी प्रकार आचार्य की वाणी के द्वारा कल्याण कारी उपदेश होता है । सारांश देवाधिदेव तीर्थंकर दया की साक्षात जीवंत मूर्ति है तो उसी प्रकार आचार्य परम देव अहिंसा के साक्षात मूर्तिमान है ॥

दीक्षा योग्या-योग्य-

वण्णत्तय संजादो, पिदु-मादु विसुद्धओ सुदेसो ।
कल्लाणंगो सुमुहो, तव-सहणो चारू रूवो य ॥९॥

अन्वयार्थ-जो (वण्णत्तय संजादो) त्रिवर्ण में उत्पन्न हो (पिदु माद विसुद्धओ) जिसके मातृ पक्ष और पितृ पक्ष, (कुल-जाति) विशुद्ध हो (सुदेसो) उत्तम देशज हो (कल्लाणंगो) कल्याण रूप शुभ अंग हो (तव सहणो) तप सहिष्णु, ताप सहन करने वाला हो (चारू रूवो य) और सुन्दर रूपवान हो ॥९॥

अर्थ-आचार्य त्रिवर्णोत्पन्न माता-पिता की विशुद्धि, उत्तमदेश कल्याण स्वरूप योग्य प्रशस्त अंग सौम्य मुखमुद्रा तथा तप साधना युक्त सुन्दर रूपवान हो ।

दिक्खागहणे जोग्गो ण विच्छिण्णो णय अहिय अंगो य ।
छिव्विरणासो उम्माई चित्ती दुव्व-वसण-सतत्तो ॥१०॥

अन्वयार्थ-(दिक्खा गहणे जोग्गो) दीक्षा ग्रहण करने योग्य है । (को) कौन जो (ण छिव्विण्णो) न विकलांग हो, (णय अहिय अंगो) न अधिक अंग हो (य) च शब्द से न हीन अंग हो, (छिव्विर णासो) सुन्दर छोटी नाक वाला हो (उम्माई) शुक सम नाक हो (चित्ती दुव्व वसण) और दुर्व्यसनों से (सतत्तो) रहित हो ॥१०॥

अर्थ-दीक्षा ग्रहण करने योग्य वही है जो विकलांग न हो जिसका अंग भंग एवं अधिक अंग न हो तथा जो न क्षत-विक्षत, न उन्मत्त प्रवृत्ति वाला, सुन्दर छोटी नासा वाला, शुक सम नासा वाला हो उन्माद अपस्मार आदि दोषों से रहित और दुर्व्यसन से रहित होना चाहिए ॥१०॥

विशेष-यहां आचार्य प्रवर जिन दीक्षा का पात्र कौन है ऐसा वर्णन करते हैं । जिसमें प्रथम त्रिवर्ण में उत्पन्न हो । ऐसा उल्लिखित है -

तदुक्तं

ब्राह्मणः क्षत्रियाः वैश्या, योग्याः सर्वज्ञ दीक्षणे ।
कुलहीने न दीक्षाऽस्ति जिनेन्द्रोद्दिष्टि शासने ॥१०६॥ प्रा. चू.

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन ही सर्वज्ञ दीक्षा निर्ग्रन्थ लिंग धारण करने योग्य हैं। इन तीनों में भिन्न शूद्रादि कुलहीन हैं अतः इनके लिए जिन शासन में निर्ग्रन्थ (नग्न) लिंग नहीं- वे निर्ग्रन्थ लिंग को धारण करने योग्य नहीं हैं।

त्रिषु वर्णेष्वेकतमः, कल्याणांगः तपः सहो वयसा।

सुमुखः कुत्सा-रहितः, दीक्षा गहणे पुमान योग्य॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों में से कोई सा भी एक वर्ण मोक्ष का अधिकारी है, वही वय के अनुसार तपश्चरण करने वाला सुन्दर और ग्लानि-रहित दीक्षा ग्रहण करने योग्य है ।

शान्तस्तपः क्षमोऽकुत्सो वर्णेष्वेक तमस्त्रिषु ।

कल्याणंगो नरो योग्यो लिङ्गस्य ग्रहणे मतः ॥५१॥ यो. सा.

अर्थात् जो मनुष्य शान्त है, तपश्चरण में समर्थ है, दोष रहित है, तीन वर्णों में से किसी एक वर्ण का धारक हो और कल्याण रूप सुन्दर शरीर के अंगों से युक्त है वह जिनलिंग के ग्रहण में योग्यमाना गया है ।

तीसु एक्को कल्लाणंगो तवो सहो वयसा ।

सुमुहो कुछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥१० ।३०५। प्र. सा.

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों में से किसी एक वर्ण का, निरोग, तप करने में समर्थ, अति बाल व अति वृद्धत्व से रहित, योग्य आयु वाला, सुन्दर लोकोपवाद से रहित पुरुष ही जिनलिंग को ग्रहण के योग्य होता है ।

प्रथम गुण त्रिवर्णोत्पन्न तथा द्वितीय गुण माता पिता की विशुद्धि होना आवश्यक बतलाया है जैसा कि कहा है-

विशुद्ध-कुल-गोत्रस्य सद्वृत्तस्यवपुष्मतः ।

दीक्षा योग्यत्व माम्नातं सुमुखस्य सुमेध सः ॥१५८॥३९॥ आ. पु.

अर्थात् जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और प्रतिभा अच्छी है ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करने योग्य माना गया है ।

कुल एवं गोत्र शुद्धि से तात्पर्य:

कुलीन क्षुल्लकेष्वेव सदा देयं महाव्रतं ।

सल्लेखनोप रूढेषु गणेंद्रेण गणेच्छुना ॥११३॥ प्रा. चू.

अर्थात् सज्जाति विवाहिता ब्राह्मणी में ब्राह्मण से, क्षत्रिया में क्षत्रिय से तथा वैश्य

स्त्री में वैश्य से उत्पन्न हुए पुरुष के ही मातृ पक्ष एवं पितृ पक्ष ये दोनों कुल विशुद्ध है। माता के वंश परम्परा को जाति तथा पिता से वंश परम्परा को कुल कहते हैं । ब्राह्मणी में क्षत्रिय से उत्पन्न सन्तान, ब्राह्मणी में वैश्य से उत्पन्न सूत वैदेहिक आदि वर्ण रहित हैं और वर्ण से रहित पुरुष, जाति से रहित पुरुष जिन दीक्षा ग्रहण का अधिकारी नहीं।

तात्पर्यार्थ–सज्जाति ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य जिनके वर्ण संकर, वीर्य संकर तथा जाति संकर का दोष न लगा हो अर्थात् जिसका जाति एवं कुल शुद्ध है वही जिन दीक्षा का पात्र है । तदन्तर जिसके अंग-भंग न हो अथवा अंग अधिक न हो वही दीक्षा का पात्र है जैसा कि कहा है :

"यो रत्नत्रय नाशः स भङ्गो जिनवरैर्निर्दिष्टः ।तथा शेष भङ्गेन पुनः शेषखण्ड मुण्डवात वृषणादि भंगेन न भवति सल्लेखनार्हः लोक दुगुच्छा भयेन निर्ग्रन्थरूप योग्योन भवति ॥ २२४-११ ॥ प्र. सा./चा. अ."

अर्थात् तथा शरीर के अंग भंग होने पर मस्तक भंग, शिर भंग या लिंग भंग (वृषण भंग) वात-पीड़ित आदि शरीर की अवस्था होने पर कोई समाधि मरण के योग्य अर्थात् लौकिक में निरादर के भय से निर्ग्रन्थ भेष के योग्य नहीं होता और भी आगे कहा है कि:

लोभि-क्रोधि-विरोधि-निर्दय-शपन्, मायाविनां मानिनां।
कैवल्यागम-धर्म-संघ विबुधा वर्णानुवादामनाम् ॥
मुंचामी वदतां स्वधर्म ममलं सद्धर्म विध्वंसिनां।
चित्त क्लेश कृतां सतां च गुरुभिर्देया न दीक्षा क्वचित् ॥ ४१ ॥
पात्रापात्र भेद दा. शा.

अर्थात् जो लोभी हो, क्रोधी हो, धर्म विरोधी हो, निर्दयता से दूसरों को गाली देता हो, मायावी तथा मानी हो, केवल , धर्म, आगम, चतुर्विध संघ तथा देव इन पर दोषारोपण करता हो, 'मौका आने पर मैं धर्म छोड़ दूगां' ऐसा कहता हो, सद्धर्म नाश करने वाला, सज्जनों के चित्त में क्लेश उत्पन्न करने वाला हो उसे गुरुजन कदाचित् भी दीक्षा नहीं देवें॥

कुल-जाति-वयो-देह-कृत्यबुद्धि-क्रुधादयः।
नरस्य कुत्सिता व्यङ्गास्तदन्ये लिङ्ग योग्यता ॥५२ ॥यो. सा. चा. अ.

अर्थात् जिनलिंग ग्रहण में कुकुल, कुजाति, कुवय, कुदेह, कुबुद्धि, और क्रोधादिक कषाय ये मनुष्य के जिनलिंग-ग्रहण में व्यंग है भंग है अथवा बाधक हैं। इनसे

भिन्न अर्थात् सुजाति, (उत्तम जाति), उत्तम कुल, अतिबाल-अतिवृद्धत्व से रहित योग्य आयु, अंग भंग या अंगाधिक से अथवा अन्य देह सम्बन्धी दोषों से रहित उत्तम देह, धर्मानुकूल जिनमार्गी, उत्तम बुद्धि तथा क्रोधादि विकार से रहित अवस्था ही लिंग ग्रहण की योग्यता को लिए हुए है अतः दीक्षाचार्य को धर्म तथा धर्मी के हित के लिए इन सब बातों को ध्यान में रखकर जो जिनदीक्षा का पात्र समझा जाय उसे ही जिनदीक्षा देनी चाहिए अन्यथा अपनी कुल वृद्धि या मोह-लोभादिक के वश होकर नहीं॥

पूर्व काल में भी मेरू और मन्दर दोनों राजकुमार भी भगवान के समवशरण में जाकर प्रर्थना करते हैं कि-

येत्तरूं गुणत्तव तिरैव यामुडै।
गोत्तिरं कुलमिवै येरूकु वाळिनि ॥
नोटरूं पिरवि नीर् कडलै नींदु नर्।
दूँपे याम् निरूवुरू वेडिरिँ जिडा॥१२०१॥ मे. म. पु.अ.१३

अर्थात् इस प्रकार मन में विचार कर कहने लगे कि गणधरादि मुनियों के अधिपति ! हे स्वामी सुनो। हमारा कुल उच्च है, इसलिये अत्यन्त दुस्तर संसार रूपी समुद्र से पार करने के लिये सेतुरूप मुनिदीक्षा का अनुग्रह करो इस प्रकार भगवान से प्रार्थना की॥

सारांश-उपरोक्त दुर्गुणों से रहित तथा योग्य गुण सम्पन्न, महारोग रहित निरोगी है वह जिन दीक्षा धारक होता है अन्यथा नहीं॥१०॥

संघ बाह्यः-

गायण वायण णच्चण पमुहं कुकम्मादि जीवणो वाओ।
जइ कहव होई साहू सो संघ वाहिरओ ॥११॥

अन्वयार्थ-जो (गायण) गाकर (वायण) बजाकर (णच्चण) नाचकर/नृत्यकर (पमुहं कुकम्मादि) इत्यादि प्रमुख कुकर्म आदि करके (जीवणो वाओ) जीवन यापन करता है (जइ कहव) यदि किसी तरह (साहू होई)नग्न साधु भी हो तो (सो) वह श्रमण (संघ वाहिरओ) संघ बाहिर है॥११॥

अर्थ-जो गाकर, बजाकर, नाचकर इत्यादि कुकर्मादि के द्वारा जीवन यापन करता है। यदि वह जिस किसी तरह साधु भी हो जाता है तो भी वह श्रवण संघ से बाहिर-बाह्य है॥११॥

विशेष-यहां पर संघ के बाहर कौन ? इस बात को लक्ष्य में रख कर उक्त गाथा का अवतरण हुआ। कहा गया है कि जो यति गायन करके, यंत्र बजाकर, शरीर

की आकर्षक स्थिति बनाकर अर्थात नृत्य आदि कुकर्म करके अपने उदर पूर्ति करता है एवं मान-प्रतिष्ठा बढ़ाता है वह श्रमण संस्कृति से बहिर्भूत है।

तदुक्तं-

गायक-वादक-नर्तक मागध परिहासकारादि लोकेभ्यः।

सेवार्थं दाता धनमपवादभयेन चार्थिने दद्यात् ॥१९८॥ दा. विचार. दा. शा.

अर्थात् गाने वाला, बजाने वाला, नृत्य करने वाला, स्तुति करने वाला, हास्यकार, याचक, आदियों की सेवा करने के उपलक्ष्य में, लोक में अपवाद न हो इस भय से ही धन देना चाहिए। उनको पात्र समझ कर दान नहीं देना चाहिए। अर्थात् उनको आचार्य श्री ने पात्र की संज्ञा ही नहीं दी।

णच्चदि गायदि तावं कायं वाएदिलिंगरूवेण।

सो पाव-मोहिद-मदी तिरिक्ख जोणी ण सो समणो ॥४॥ लिं. पा.

अर्थात् जो मुनि होकर भी नृत्य करता है, गाता है और बाजा बजाता है वह पापी पशु है मुनि नहीं। इस प्रकार के यति संघ बाह्य है ॥ ११ ॥

पिच्छ पडिदाय णिरदो, उम्मग्ग पवट्टगो अट्टं जुत्तो।

जहकम विलो वि चरिओ णो सवणो समण पुल्लोसो ॥१२॥

अन्वयार्थ-जो (पिच्छ पडिदाय णिरदो) पिच्छी का परिवाद करने में निरत है (उम्मग पवट्टगो जुत्तो) उन्मार्ग का प्रवर्तक है और अट्टंग मुक्त है (जहकम विलोवि चरिओ) यथाक्रम का लोप कर चारित्र का पालन करता है (णो सवणो समण) वह श्रमण नहीं बल्कि (पुल्लोसो) घास के पूले के समान है ॥१२॥

अर्थ-पिच्छ ग्रहण नहीं करने वाले निष्पिच्छ, उन्मार्ग में प्रवृत्ति करने वाले, यथाक्रम से गुरु क्रम का और चारित्र का लोप करने वाला श्रमण नहीं है किन्तु च्युत श्रमण है घास के पुले के समान तुच्छ है।

विशेष-यहाँ इस गाथा में आचार्य प्रवर स्पष्ट करते हैं कि जगत में च्युत श्रमण अर्थात् श्रमण पद से च्युत कौन यति है ? उक्त वर्णन में सर्वप्रथम जो यति पिच्छी को स्वीकार नहीं करते हैं वे च्युत श्रमण है ऐसा उल्लेख किया है।

इन्द्रनन्दि आचार्य ने अपने नीतिसार नामक ग्रन्थ में पिच्छी धारण/स्वीकार न करने वाले यतियों को निःपिच्छ जैनाभास के नाम से स्मरण किया है।

यथा:

गोपुच्छिक: श्वेतवास, द्रविडो यापनीयक:।
निष्पिच्छश्चेति पंचैते, जैनाभासा: प्रकीर्तिता ॥१०॥

नीतिसार

अर्थात् गाय के बछड़े की पूंछ के बाल की पिच्छी धारण करने वाले, श्वेताम्बर, द्रविड, यापनीय, पिच्छी रहित नि:पिच्छ इस प्रकार ये पाँच प्रकार के यति जैनाभास कहे जाते हैं॥

द्वितीय लक्षण च्युत श्रमणों का जिन प्रणीत सुमार्ग को छोड़ कर उन्मार्ग (जिन प्रतिकूल मार्ग) में भ्रमण करने वाले यति के लिए कहा है। तीसरा लक्षण ''गुरु क्रम का लंघन'' जिसको महर्षि पादपूज्य आचार्य ने भी श्रमणत्वपने का निषेध किया। यथा-

गुरु क्रमोल्लंघन तत्परा, ये जिन क्रमोल्लंघन तत्परास्ते।
तेषां न दृष्टिर्न गुरुर्न पुण्यं वृत्तं न बंधुर्न त एव मूढा: ॥१३८॥

चतुर्विध निरूपण ॥ दा. शा.

अर्थात् जो मनुष्य गुरुओं की परम्परा को उल्लंघन करना चाहते हैं वे गुरु आज्ञा प्रमाण न होने से जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा के उल्लंघन करने में तत्पर हैं ऐसा समझना चाहिए। उन लोगों में सम्यक्त्व नहीं, उनके कोई गुरु नहीं, उनके पुण्य बन्ध नहीं, चारित्र प्राप्ति नहीं, तथा उनका कोई बन्धु नहीं। विशेष क्या ? वे अपना अहित कर लेने वाले मूढ़जन हैं। धार्मिको में उत्सक:

निज धर्मवंश पारंपरागत-सत्क्रमं व्यतिक्रम्य।
यो वर्तते स उत्सक इह तेन च धर्म वंश हानि: स्यात् ॥१३९॥ दा. शा.

अर्थात् सर्वज्ञ परम्परा से आगत सन्मार्ग का उल्लंघन कर आचरण करने वाला धार्मिक मनुष्यों में उत्सक कहलाता है। क्योंकि वह स्वेच्छा से ही आचार धर्म को मानने वाला होता है इसीलिए इस प्रकार उच्छृखंल प्रवृत्ति से उस व्यक्ति द्वारा निज धर्म एवं वंश की हानि होती है।

दिक्खा विहुणा रहिओ, सयमेव य दिक्खिओ पमत्तट्ठो।
संघ पडिकूल चित्तो, अवंदणिज्जो मुणी होई ॥१३॥

अन्वयार्थ-जो (दिक्खा विहिणा रहिओ) दीक्षा विधि से रहित हो (सयमेव दिक्खिओ) स्वयं दीक्षित हो (य पमत्तट्ठो) और प्रमत्त अभिप्राय वाला (संघ पडिकूल

चित्तो) संघ के प्रतिकूल चित्त वाला (मुणी) मुनि (अवंदणिज्जो) अवंदनीय वन्दना करने योग्य नहीं (होई) होता है ॥१३॥

अर्थ–दीक्षा विधि से रहित, स्वयं दीक्षित, प्रमादी, आर्तध्यानी और संघ के प्रति कूल चित्त का धारक मुनि अवन्दनीय होता है ॥१३॥

विशेष–उक्त बारहवीं गाथा में आचार्य श्रेष्ठ ने च्युत श्रमण के लक्षण दिये उसी को यहां पर और भी स्पष्ट किया गया है जिससे प्रथम लक्षण दीक्षा विधि से रहित यति श्रमण परम्परा से रहित होने से अवन्दनीय कहा है।

दंसण णाण चरित्ते उवहाणे जइ ण लिंग रूवेण।

अट्टं झायदि झाणं अणंत संसारिओ होदी ॥[illegible]॥

अर्थात् जो मुनि लिंग धारण कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्यज्ञान एवं सम्यग्चारित्र को उपधान-(आश्रय) नहीं बनाता है तथा आर्तध्यान करता है वह अनन्त संसारी है॥

अब यहां प्रकरण वश संक्षिप्त दीक्षाद्य विधि का वर्णन करते हैं। यथा:

जिन दीक्षा का इच्छु जन सर्वप्रथम दीक्षा धारण करने का कारण समझना चाहिए। जैसा कि कहा है:

गृह का त्याग क्यों ?

शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः।

अतश्चित्त प्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहे स्थितिः ॥१०॥

निरन्तरार्त्तानलदाह, दुर्गमे कुवासनाध्वान्त-विलुप्त-लोचने।

अनेका चिंता ज्वर जिह्मितात्मनां, नृणां गृहे नात्महितं प्रसिद्ध्यति ॥१२/४॥ ज्ञानार्णव

अर्थात् गृहस्थ घर में रहते हुए अपने चपल मन को वश करने में असमर्थ है। अतएव चित्त की शान्ति के लिए सत्पुरुषों ने घर का त्याग कर दिया और एकान्त में रहकर ध्यान अवस्था को प्राप्त हुए क्योंकि निरन्तर पीड़ा रूपी आर्तध्यान की अग्नि के दाह से दुर्गम, बसने के अयोग्य तथा काम क्रोधादि की कुवासना रूपी अन्धकार से विलुप्त हो गयी है नेत्रों की दृष्टि जिसमें, ऐसे घर में अनेक चिन्ता रूपी ज्वर से विकार रूप मनुष्यों के अपने आत्मा का हित कदापि सिद्ध नहीं होता ॥१०/१२॥

जब मुमुक्षु जन गृह त्यागना आत्म हितार्थ अनिवार्य समझ लेते हैं तब अपने बन्धु वर्ग से परामर्श ले उनकी आज्ञा लेकर गुरु समीप जाता है क्योंकि यह दीक्षा पूर्व प्राथमिक क्रिया हैं। ऐसा ही पूर्वाचार्य कहते हैं।

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्त-पुत्तेहिं।

आसिज्ज णाण-दंसण-चरित्त-तववीरियायारं ॥२०२॥ प्र. सा./मू.

अर्थात् बन्धुवर्ग से विदा लेकर अपने से बड़े तथा स्त्री पुत्रादि से मुक्त हुआ, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार करके विरत होता है।

आचार्य जिनसेनेण उक्तं च:-

सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहूय सम्मतान्।

तत्साक्षि सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत् ॥३८॥ म. पु.॥

अर्थात् गृह त्याग नामक संस्कार में सर्वप्रथम सिद्ध भगवान की पूजा कर अपने समस्त इष्ट सम्बन्धी जन को बुलाकर उन्हें उनके सम्पूर्ण घर के कार्य भार को सौंप कर उन्हें सन्मार्गोपदेश देकर स्वयं निराकुल होवे तत्पश्चात् दीक्षा ग्रहण हेतु अपना घर छोड़ दे॥

उपर्युक्त गाथाएं बन्धुओं की सहमति प्रदान करती हैं परन्तु यदि बन्धुवर्ग में मतभेद होने से सहमत न हो तो दीक्षेच्छु को क्या करना चाहिए, तब आचार्य कहते हैं कि:

तत्र नियमो नास्ति। कथमिति चेत् ?...तत्परिवार मध्ये यदा कोऽपि मिथ्यादृष्टि र्भवति तद धर्मस्योपसर्गं करोतीति। यदि पुनः कोऽपि मन्यते गोत्रसम्मतं कृत्वा पश्चात्तपश्चरणं करोति तस्य प्रचुरेण तपश्चरणमेव नास्ति कथमपि तपश्चरणे गृहीतेऽपि यदि गोत्रादि ममत्वं करोति तदा तपोधन एव न भवति ॥२०२॥ प्र. सा. ज. टीका

अर्थात् अपने बंधु वर्ग से क्षमा कराने यह कथन अमर्यादा के निषेध के लिए है अन्यथा उसके लिए वहां इस बात का नियम नहीं है। क्यों नियम नहीं है? क्योंकि भरत, सगर, राम, पाण्डवादि ने जिन दीक्षा धारण की थी। उनके परिवार के मध्य जब कोई भी मिथ्यादृष्टि होता था, वह धर्म पर उपसर्ग भी करता था। तब कोई उपर्युक्त बात को नियम मान बैठे तब उसके मत में अधिकतर तपश्चरण ही न हो सकेगा क्योंकि जब किसी तरह से तप ग्रहण करते हुए यदि अपने सम्बन्धी आदि से ममत्व करे तब कोई भी तपस्वी हो नहीं सकता।

अपने मन में वैराग्य भावना पूर्वक गुरु के समीप जाकर हाथ जोड़कर, मस्तक झुका कर गुरु से प्रार्थना करता है "हे भगवान् मुझे स्वीकार करो" ऐसा कहकर प्रणाम किया जाता है और विशिष्ट आचार्य द्वारा वह ग्रहण किया जाता है।

इस प्रकार जो दीक्षाद्य विधि से रहित हो, स्वयं दीक्षित हो क्योंकि आचार्य सिंहनन्दी कहते हैं कि:

ये स्वयं व्रतमादत्ते स्वयं चापि विमुञ्चति।

तदव्रतं निष्फलं ज्ञेयं साक्ष्या भावात् कुत: फलम्॥

गुरु प्रदिष्टं नियमं सर्वं कार्याणि साधयेत्॥ व्र. ति. नि.

अर्थात् जो स्वयं व्रत ग्रहण करता है वह स्वयं ही व्रतों को भी छोड़ देता है। उसके लिए किए गये सम्पूर्ण व्रत निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि गुरु की साक्षी न होने से व्रतों का फल क्या होगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं। गुरु से यथाविधि ग्रहण किये गये व्रत ही सर्व कार्यों को सिद्ध कर सकते हैं।

अत: उपरोक्त पूर्वाचार्य कथित विधि से हीन स्वयं दीक्षित हैं तथा तृतीय लक्षण प्रमाद युक्त षडावश्यक आदि आवश्यक क्रियाओं के करने में प्रमाद करता हो, आर्तध्यान करता हो, संघ की मूल प्रवृत्ति के प्रतिकूल आचरण वचन आदि व्यवहार करता हो, वह वन्दना करने के योग्य नहीं है ॥१३॥

भ्रष्ट सेवी भ्रष्ट

पसित्थाणं सेवी पासत्थो, पंच चेल परिहीणो।

विवरीयट्ठपवादी, अवंदणिज्जो जई होई॥१४॥

अन्वयार्थ-(पसित्थाणं सेवी पासत्थो) पार्श्वस्थों की सेवा करने वाला पार्श्वस्थ होता है (विवरीयट्ठपवादी) आगम के अर्थ को अन्यथा विपरीत प्रतिपादन करता हो (पंच चेल परिहीओ) पंच प्रकार के वस्त्र से रहित होता है, तो भी (जइ) वह मुनि (अवंदणिज्जो होई) अवन्दनीय होता है ॥१४॥

अर्थ-पार्श्वस्थों की सेवा करने वाला, आगम के अर्थ का अन्यथा प्रतिपादित करने वाला, पांच प्रकार के वस्त्र से रहित शिथिलाचारी साधु, विपरीत प्रवृत्ति करने वाला एवं अपवादी यति अवन्दनीय होता है ॥१४॥

विशेष-यहां अवन्दनीय साधुओं का वर्णन करते हुए सूरि प्रवर कहते हैं कि जो पार्श्वस्थ सेवी हो क्योंकि पूर्वाचार्य का मत है कि

तत्पार्श्वस्थावसन्नैक कुशील मृगचारिषु॥१०५/१०॥ सि. सा.

अर्थात् पार्श्वस्थ वसतिका में आसक्त रहता है, उपकरणों से उपजीविका करता है और मुनियों के पास रहता है॥

अवसन्न-जो चारित्र पालन में आलस्य युक्त होता है, जिनवचनों को नहीं जानता है, जिसने चारित्रभार छोड़ दिया है, ज्ञान से व चरित्र से जो भ्रष्ट है और क्रियाओं में आलस्य युक्त है॥

कुशील-क्रोधादिकों से कलुषित, व्रतगुण और शीलों से रहित संघ का अपमान करने वाला होता है॥

मृगाचारी-गुरुकुल को छोड़कर विहार करने वाला और जिनवचनों को दूषित करने वाला होता है। इस प्रकार पार्श्वस्थादि यतियों का अल्पांश स्वरूप कहा विस्तार से पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थों से जानना चाहिए॥

पासत्थादी पणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे।
हंदि हु मेलण दोसेण होई पुरिसस्स तम्मयदा॥३४१॥
लज्जं तदो वि हिंसं पारंभं णिव्विसंकदं चेव।
पियधम्मो वि कम्मेणा रूहतओ तम्मओ होई॥३४२॥ भ. अ.

अर्थात् पार्श्वस्थ, अवसन्न संसक्त, कुशील एवं मृगचरित्र इन पांच प्रकार के कुमुनियों से तुम सदा दूर रहो। उनसे मेल रखने से उनके समान पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है॥ पार्श्वस्थ आदि का संसर्ग करने की इच्छा रखते हुए भी लज्जा करता है पश्चात् असंयम के प्रतिग्लानि करता है कि मैं कैसे इस प्रकार व्रत का खण्डन करुं यह तो दुरन्त संसार में गिराने वाला है, परन्तु चारित्र मोह के उदय के वशीभूत होकर असंयम का प्रारम्भ करता है। असंयम का पालन करके वह यति आरम्भ परिग्रह आदि में नि: शंक होकर प्रवृत्ति करता है। इसप्रकार धर्म का प्रेमी भी मुनि क्रम से लज्जा आदि का त्याग करते हुए पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है॥ तत्पश्चात्

संविग्गस्सवि संसग्गीए पीदी तदो य वीसंभो।
सदि वीसंभे य रदी होई रहीए वि तम्मयदा॥३४३॥

अर्थात् संसार से भयभीत मुनि भी पार्श्वस्थ आदि के संसर्ग से उनसे प्रीति करने लगता है। प्रीति करने से उनके प्रति विश्वासी हो जाता है। उनका विश्वास करने से उनका अनुरागी हो जाता है और उनमें अनुराग करने से पार्श्वस्थादि मय हो जाता है॥ क्योंकि:

दुज्जण संसग्गीए संकिज्जदि संजदो वि दोसेण।
पाणागारे दुद्धं पियंतओ बंभणो चेव॥३५१॥

दुर्जन के संसर्ग से लोग संयमी के भी सदोष होने की शंका करते हैं जैसे मद्यालय में बैठकर दूध पीनेवाले ब्राह्मण के भी मद्यपायी होने की शंका करते हैं। अतः पार्श्वस्थ साधुओं की सेवा, विनय, भक्ति आदि करने वाला यति क्रमशः लज्जा आदि से पार्श्वस्थ मग्न हो जाता है फिर चाहे वह पंच प्रकार के वस्त्र से रहित भी क्यों न हो। ऐसा यति अवन्दनीय होता है।

पंचचेल को ?

पञ्च विधानि पंच प्रकाराणि चेलानि वस्त्राणि-अंडजं वा कोशजं तसरि चीरम् (1) बोडजं वा कपासि वस्त्रं (2) रोमजं च ऊर्णामयं वस्त्रं एडकोष्ट्रादि रोम वस्त्रं (वक्कजं या वल्कं वृक्षादित्वग्भङ्गादि छल्लिवस्त्रं तद्गादिकं चापि (4) चर्मजं वा मृगचर्म व्याघ्रचर्म चित्रकचर्म गजचर्मादिकम्.....। भा. पा.

वस्त्र पांच प्रकार के होते हैं रेशम से उत्पन्न वस्त्र अंडज, कपास से उत्पन्न बोंडज वस्त्र, बकरे ऊंट आदि के बाल से उत्पन्न रोमज वस्त्र, वृक्ष या बेल आदि की छाल से उत्पन्न चर्मज वस्त्र कहलाते हैं ॥

तथा जो देव, धर्म, गुरु आदि का अपवाद यानि निंदा करने वाला तथा विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाला यति भी वन्दनीय नहीं है ॥१४॥

संघाचार चत्ता सयकप्पिय किरिकम्म संगहणो।
गारव-तय कम सोहो अवंदणिज्जो जई होई ॥१५॥

अन्वयार्थ-जो (संघाचार चत्ता) संघ के आचार को छोड़कर (सयकप्पिय) स्वयं कल्पित (किरिय कम्म संगहणो) क्रिया कर्म का संग्रह करने वाला है। (गारवतय कय सोहो) रस, ऋद्धि, सात गारव रूप तीन गारव से संयुक्त है वह (जइ) मुनि (अवंदिणज्जो होई) अवंदनीय होता है ॥१५॥

अर्थ-तीन गारव से गर्वित हो यति संघ के आचार कर्म को छोड़कर स्वयं निज कल्पित क्रिया कर्म का संग्रहण करने वाला मुनि अवन्दनीय होता है ॥१५॥

विशेष-गारव शब्द वर्ण के उच्चारण आदि का गर्व शब्द गारव, शिष्य पुस्तक, कमण्डलु पिच्छी आदि से अपने को ऊंचा प्रकट करना ऋद्धिगारव तथा भोजन-पान आदि से उत्पन्न सुख की लीला से मस्त होकर मोह मद करना सात गारव है। इस प्रकार इन तीन गारव (गर्व/अभिमान)के शिखर पर स्थितहोकर संघ के आचार कर्म को छोड़ देता है वह कौन-कौन से आचार कर्म को छोड़ देता है ? तब कहते हैं कि वह दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार इस प्रकार पंच प्रकार

के आचार कर्म को छोड़ देता है और पश्चात् अपने स्वयं मनोकल्पना अर्थात् जैसा मन को रुचे वैसे कर्म को आचार मानकर उस स्वकल्पित आचार कर्म को करने में तल्लीन हो जाता है। ऐसा यति मूल आचारों को त्याग करने वाला वन्दना करने योग्य नहीं है॥

यहां पर प्रकरण वश पंचाचारों का पूर्वाचार्य कथित संक्षिप्त वर्णन करते हैं-

(१) दर्शनाचार की निर्मलता:

दंसण चरण विसुद्धी अट्ठविहा जिणवरेहिं णिद्दिट्ठा॥२००॥

णिक्कंखिद णिव्विदिगिच्छा अमूढ़ दिट्ठी य।

उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावण य ते अट्ठ॥२०१॥मू.आ.

अर्थात् दर्शनाचार की निर्मलता जिनेन्द्र वरिष्ठो के द्वारा आठ प्रकार की कही है। निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना। ये आठ सम्यक्त्व के गुण (अंग) जानना।

(२) ज्ञानाचार:

काले विणए उवहाणे तहेव णिण्हवणे।

वंजण अत्थ तदुभयं णाणाचारो दु अट्ठ विहो॥२६१॥ मू. आ.

अर्थात् स्वाध्याय का काल (अकाल समय को छोड़कर), मन-वचन एवं काय से शास्त्र का विनय यत्नपूर्वक करना, पूजा -सत्कार-सम्मान आदि से पाठ करना (आदर विनय पूर्वक), अपने पढ़ाने वाले गुरु का तथा पढ़े हुए शास्त्र का नाम प्रकट करना (छिपाना नहीं) वर्ण, पद, वाक्य को शुद्धि पूर्वक शुद्ध उच्चारण करके पढ़ना, अनेकान्त स्वरूप अर्थ की शुद्धि अर्थ सहित पाठादिक की शुद्धि होना। इस प्रकार ज्ञानाचार के आठ भेद हैं।

काल विनयोपधान बहुमाना निह्नवार्थ व्यन्जन तदुभय

सम्पन्नत्व लक्षण ज्ञानाचार :॥२०२॥ प्र. सा.

अर्थात् काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिन्हव, अर्थ, व्यन्जन और तदुभय सम्पन्न ज्ञानाचार है॥

(३) चारित्राचार:

पाणिवह मुसावाद अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरदी।

एस चरित्ताचारों पंचविहो होदि णादव्वो॥२८८॥

पणिधाण जोग जुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।

एस चरित्ताचारो अट्ठविहो होइ णायव्वो ॥२९७॥ मू. आ.

अर्थात् प्राणियो की हिंसा, झूठ बोलना, चोरी, मैथुन सेवन, परिग्रह-इनका परित्याग अहिंसा आदि पांच प्रकार का चारित्राचार है॥ परिणाम के संयोग से पांच समिति और तीन गुप्तियों के अकषाय रूप प्रवृत्ति यह आठ ऐसी [illegible] चारित्राचार है॥

(४) तपचाचार :

दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो।

एक्केक्को वियघद्धा जहाकमं तं परूवेमो ॥३४५॥

अणसण अवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्ति परिसंखा।

कायस्स च परितावो विवित्त सयणासणं छट्ठं ॥३४६॥

पायच्छित्तं विणयं वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं।

झाणं च विउसग्गो अब्भंतरओ तवो एसो ॥३६०॥ मू. आ.

अर्थात् तपाचार के दो भेद हैं-बाह्य, अभ्यन्तर। उनमें दोनों के ६-६ भेद हैं उनको क्रम से कहता हूं। अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्ति परिसंख्यान, काय-शोषण एवं विविक्त शय्यासन इस तरह बाह्य तप के छः भेद हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग--ये छः भेद अन्तरंग तप के हैं।

अनशनावमौदर्य वृत्ति परिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्त शय्यासन-3 कायक्लेश-प्रायश्चित्त-विनय-वैय्यावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग लक्षण तपाचार।प्र.सा.

अर्थात् अनशन अवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान एवं व्युत्सर्ग स्वरूप तपाचार है।

(५) वीर्याचार :

अणिगूहिय बलविरओ पर कमादि जो जहुत्तमाउत्तो।

जुंजदि य जहाथाणं विरियायारो त्ति णादव्वो ॥४१३॥मू. आ.

सम्मत्तेतराचार प्रवर्तक स्वशक्त्यानिगूह लक्षणं वीर्याचार।प्र. सा.

अर्थात् नहीं छिपाया है आहार आदि से उत्पन्न बल तथा शक्ति जिसने ऐसा साधु यथोक्त चारित्र में तीन प्रकार अनुमति रहित सत्रह प्रकार के संयम विधान करने

के लिए आत्मा को युक्त करता है वह वीर्याचार जानना।

समस्त इतर आचार में प्रवृत्ति कराने वाली स्वशक्ति के अगोपन स्वरूप वीर्याचार है।

तात्पर्य उपर्युक्त पंचाचारों को छोड़ कर स्वेच्छाचार प्रवृत्ति करने वाला यति अवन्दनीय होता है ॥१५॥

संघ बाह्य स्वेच्छाचारी :

जो जारिसं (च)* कप्पदि, मुणिवर गण बाहिरं महामोहो।

सो तारिसेण किरिया, कमेण भट्ठो मुणी होई ॥१६॥

अन्वयार्थ- (जो जारिसं) जो जैसा (कप्पदि) कल्पना करता है (सो तारिसेण) वह वैसी मनोकल्पित (किरिया कमेण) क्रिया कर्म को करने से (महामोहो) महामोही (मुणिवर गण बाहिरं) मुनिश्रेष्ठ/संघ से बाहिर-बाह्य (भट्ठो मुणी होई) भ्रष्ट मुनि होता है ॥१६॥

अर्थ-जो जिस तरह की कल्पना करता है वह उस तरह की मनोकल्पित क्रिया से मुनिवरों के समूह से बाहर/बाह्य है, महामोही है तथा भ्रष्ट मुनि है ॥१६॥

विशेष-जो यति महाशक्ति शाली मोह से पीड़ित है वह अपने निज इच्छा प्रमाण कर्मों को करने के कारण से मुनिपद से भ्रष्ट है और मुनि संघ/समूह से बहिर्भूत है। क्योंकि-

राजानुग्रहतो भृत्यो जनान्यक्कृतय् नश्यति।

यथा जड़ात्मा शिष्योऽपि गुर्वनुग्रह मात्रतः ॥२३॥ पात्रापात्र भेदाधिकार, दा. शा.

अर्थात् राजा के अनुग्रह को प्राप्त करने वाला सेवक अभिमानी होकर लोगों को पीड़ा देने से जिस प्रकार अपना नाश करता उसी प्रकार अज्ञानी जड़ आत्मा शिष्य भी गुरु के अनुग्रह से मदोन्मत्त होकर अपने आत्मा का पतन कर लेता है। तात्पर्य-वह अपने पद से भ्रष्ट हो जाता है॥ कहा भी है-

निमज्जंतीव पंकांधौ पतंतीव नगाग्रतः।

शुद्ध दृग्बोधवृत्तेभ्यो वृथा भ्रश्यंति मोहिता ॥१५३॥ च.वि.दा.नि.दा.शा.

अर्थात् जिस प्रकार कोई कीचड़ के कूए में फंस जाते हों एवं पर्वत के ऊपर से गिरते हों उसी प्रकार संसार के मोह में फंसे हुए मनुष्य व्यर्थ ही शुद्ध सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं।

---

* गाथा छंद में एक मात्रा का अभाव होने से 'च' का प्रयोग किया गया है ।

संसार में मोह बड़ा जबरदस्त कीचड़ है। उसमें जो फंस जाते हैं फिर उनका उस कीचड़ से निकलना कठिन हो जाता है एवं उसे पवित्र रत्नत्रय धर्म से च्युत होना पड़ता है जिस के कारण मनोगत क्रियाकाण्ड करता हुआ वह दीर्घ संसारी बन जाता है ॥१६॥

होसई मग्गप्प भट्ठा, जिणरूव परूवणा विविह संघा।
जम्हा-तम्हा सूरी परिठवणं, सव्व सोक्खकर ॥१७॥

अन्वयार्थ-(मग्गप्पभट्ठा) मार्ग भ्रष्ट (जिणरूव परूवणा होसई) जिन रूप प्ररूपणा होगी तथा (विविह संघा) विविध संघ होंगे। अतः वस्तुतः जिनप्ररूपणारक्षण हेतु (जम्हा तम्हा) जैसे-तैसे (सव्व सौख्य कर) सर्व सुख को प्रदान करने वाली (सूरी परिठवणं) आचार्य पद प्रतिस्थापना है ॥१७॥

अर्थ-जिनरूप प्ररूपणा के मार्ग से भ्रष्ट विविध-अनेक संघ होंगे उनको आचार्य जैसे तैसे भी जिन रूप की प्ररूपणा के रक्षण के लिए सर्वसुख को करने वाली सूरि स्थापना की आवश्यकता है ॥१७॥

विशेष-यहां आचार्य ज्येष्ठ कहते हैं कि जिनदेव के द्वारा प्रतिपादित जिनरूप यथाजात नग्न दिगम्बर रूप मार्ग से अनेक जन भ्रष्ट होंगे। उन भ्रष्ट होते हुए जीवों को संघ का संचालन करने वाले, शिष्यानुग्रह करने वाले आचार्य द्वारा जैसे भी बने येन-केन प्रकारेण संयम प्रतिष्ठा की रक्षा हो सकेगी वैसे सर्वप्रकार के सुख को देने वाले आचार्य पद की स्थापना करेंगे। जैसे ग्रन्थकार आचार्य गुप्ति गुप्त द्वारा अनेक विध संघ की स्थापना की गई। यथा:

यतीनां ब्रह्म निष्ठानां परमार्थ विदामपि।
स्वपराध्यवसायत्व माविरा सीदतिक्रमम् ॥४॥
तदा सर्वोपकाराय, जाति संकर भीरूभिः।
महर्द्धिकैः परंचके, ग्रामादयाभिधया कुलम् ॥५॥ नी. सा.

अर्थात् अपने आत्मस्वरूप में तत्पर, परमार्थ को जानने वाले ऐसे मुख्य यतियों के साथ आत्मध्यान और बाह्य तपस्या के व्यापार करने का उल्लंघन होता था। उस अतिक्रम से सभी का उपकार करने के लिए वर्ण, जाति आदि में संकरता उत्पत्ति होने के भय से ऋद्धि सम्पन्न राजर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, महामुनियों के नामों से श्रेष्ठ निर्दोष कुलों की स्थापना की। अनन्तर कई आचार्यों के पश्चात् भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति के शिष्य आचार्य शान्तिसागर जी ने शिथिलाचार निवारण करने के लिए श्रमण संघ को

पुनरुज्जीवित किया। इनके पूर्व भी कई संघों की स्थापना कुन्दकुन्दादि पूर्वाचार्यों के द्वारा धर्म, संयम रक्षार्थ की गई। अत: आचार्य पद की स्थापना अनिवार्य है। अन्यथा आचार्य प्रतिष्ठापन के अभाव से समूचा जिनमार्ग ही दूषित हो जाएगा। अनेक उन्मार्ग गामी संघ हो जाएंगे। सन्तगण चारित्राचारादि से भ्रष्ट हो जाएंगे ॥१७॥

विण्णाण बहुलबुद्धि जिणमग्ग पहाणो विगमलोहो।
आसापास विमुक्को, विमुक्क पडिकूल बुद्धी ॥१८॥
देस-कुल-जाइ सुद्धो, आचार सुदत्थ-करण-संचरणो।
जहाविह संघ समुद्धर, पविति परिचिंतगो सुद्धो ॥१९॥

अन्वयार्थ-बहुल बुद्धी विज्ञान बहुल बुद्धि (जिणमग्ग पहाणो) जिन/जिनेन्द्र प्ररूपित मार्ग में प्रधान (विगम लोहो) विगत लोभ/निर्लोभ, (आसा पास विमुक्को) तृष्णा-कुत्सित/निकृष्टता से रहित (पडिकूल बुद्धि विमुक्को) आगम व संघ के प्रतिकूल बुद्धि से विमुक्त/अनुकूल बुद्धिमान ॥१८॥ (देस-कुल-जाइ सुद्धो) देश, कुल जाति से शुद्ध (आचार सुदत्थ करण संचरणो) आचार श्रुत के अर्थ का सम्यग् आचरण करने वाला सदाचारी,(जहाविह संघ) यथा विधि/योग्य रीति से संघ का (समुद्धर पविति) समानता पूर्वक भलीभांति उद्धार करने वाला (परिचिंतगो सुद्धो) परिचिंतक चिंता करने वाला, शुद्ध (आयरियो) आचार्य होता है ॥१९॥

अर्थ-जिनमार्ग में प्रधान, प्रतिकूल-मिथ्याबुद्धि से रहित, आशापास से विमुक्त, लोभ रहित, विचक्षण विशेष ज्ञान, रूप संघानुकूल प्रवर्तक प्रचुर बुद्धि, देश-कुल जाति से शुद्ध, आचार एवं श्रुत के अर्थ का विधिपूर्वक विचरण करने वाला सदाचारी यथा विधि संघ का उद्धार का परिचिन्तक आचार्यत्व लिए होती है। उसकी वह प्रवृत्ति चिंता रहित तथा शुद्ध है ॥१८-१९॥

विशेष- यहां आचार्य पद का उद्धार-वृद्धि करने के सम्बन्ध में निरूपण करते हुए कहते हैं कि जिसका देश, कुल एवं जाति विशुद्ध है, जिनेन्द्र देव के द्वारा प्रतिपादित मार्ग के प्रतिकूल/मिथ्याबुद्धि को छोड़कर अनुकूल दानादि प्रवृत्ति करने वाला है, जिनमार्ग के पक्ष में समस्त आचरण करने वाला तथा आगम का वास्तविक अर्थ को करने वाला है, आशारूपी ग्रन्थी से विमुक्त अर्थात् रहित, जिनागम का नय आदि का विशेषज्ञानरूपी प्रचुर बुद्धि को धारण करने वाला, अपने विशेष जिनागम विहित

ज्ञान के द्वारा जिन शासन में निर्दोष विधि से संघ, गण, गच्छादि का सम्यक् प्रकार से उद्धार-उत्थान/पुनरुत्थान करता है॥ इस भव्य यति को उक्त प्रवृत्ति चिन्ता विहीन तथा शुद्ध है। तत्पर्यार्थ-वह उक्त प्रवृत्ति के द्वारा गण गच्छ संघादि का उद्धार करने में समर्थ होता है। ॥१८-१९॥-

आचार्य गुण-

बंभण खत्तिय वइसो, विमुक्क कुड्डाई सयल दोष गणो।

सग-परसमय णयवह, पभासओ सुद्ध चारित्तो॥२०॥

अन्वयार्थ-जो (बंभण) ब्राह्मण (खत्तिय) क्षत्रिय (वइसो) वैश्य हो (कुड्डाई सयल दोष गणो) व कुटिलता आदि अथवा कुष्ट आदि सकल दोष समूह से (विमुक्को) विमुक्त/रहित हो। (सग-पर समय) स्व समय, पर समय और (णयवह) न्याय नीति का (पभासओ)प्रकाशक ऐसा (सुद्ध चारित्तो) शुद्ध चरित्रवान् आचार्य होता है ॥२०॥

अर्थ-जो ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य है, कुटिलता, कुष्ठ आदि सकल दोषों के समूह से रहित है, जो स्वसमय एवं परसमय का ज्ञाता, नीति मार्ग का प्रकाशक हैं वे शुद्ध चारित्र वाले हैं॥२०॥

भावार्थ-उच्च कुलीन जातज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो, कुष्ट अपस्मार, महा मारी आदि रोग तथा मानसिक कुटिलता आदि सम्पूर्ण दोषों से रहित हो, जो स्वसमय स्वसिद्धान्त और परसमय/परसिद्धान्त के नय प्रमाण आदि का पूर्णतः जानकार हो एवं शुद्ध निर्मल निर्दोष चारित्र वाले हो।-

सर्वत्र पूज्यः-

ववहारणाया वेखी परिणिंदा विवज्जिओ जियाऽ णंगो

आइरियो परिठविदो, अण्णोण्ण वि पूजाणिज्जो य ॥२१॥

अन्वयार्थ-(ववहारणया णयावेखी) व्यवहार नयापेक्षी/व्यवहार नय की अपेक्षा रखने वाला (परणिंदा विवज्जिओ) पर निन्दा का परित्यागी (जियाऽणंगो) विषयाभिलाषाओं को जीतने वाला (आयरिओ परिठविदो) आचार्य पद पर स्थापित किया जाता है, (पुजाणिज्जो य) वह पूज्य होता है, (ण अण्णोण्ण वि) अन्य नहीं॥२१॥

अर्थ-जो व्यवहार नय की अपेक्षा रखने वाला, परनिंदा से रहित, विषय की आशाओं से रहित कामदेव के विजेता हो, एक दूसरे/परस्पर आचार्य पद पर स्थापित किया जाता है वही पूजनीय होता है अन्य नहीं॥

यहा उपरोक्त गाथा नं. २० एवं २१ में आचार्य के लक्षण प्रकट करते हुए

ग्रन्थकार कहते हैं कि जो ब्राह्मण , क्षत्रिय तथा वैश्य कुल में उत्पन्न उच्चकुली हो, राग-द्वेष-मोह,ईर्ष्या, लोभ, क्रोध, मान, माया आदि सम्पूर्ण विकार भावों से रहित हो तथा जो स्वसमय अर्थात् सामान्य तथा आत्मा के अर्थ में जीव नामक पदार्थ स्व समय है जो कि एकत्व रूप से एक ही समय में जानता हुआ तथा परिणमता हुआ समय है उपर्युक्त समय शब्द के दो भेदों में परमात्मा को स्वसमय तथा बहिरात्मा को पर समय बतलाया है। यथा:

बहिरंतरप्पमेयं परसमयं जिणिंदेहिं।

परमप्पो तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥१४७॥ र. सा.

इसी तरह आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने समयसार ग्रन्थ में कहा है:

उच्चकुली हो, राग-द्वेष मोह, ईर्ष्या, लोभ, क्रोध, मान माया आदि सम्पूर्ण विकार भावों से रहित हो तथा जो स्वसमय अर्थात् सामान्यतया आत्मा के अर्थ में जीव नामक पदार्थ समय है जो कि एकत्व रूप से एक ही समय में जानता हुआ तथा परिणमता हुआ समय है उपर्युक्त समय शब्द के दो भेदों में परमात्मा को स्वसमय तथा बहिआत्मा को पर समय बतलाया है। यथा-

इसी तरह आचार कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने समय सार ग्रन्थ में कहा है-

जीवो चरित्त दंसण णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण,

जुग्गल कम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥२॥स. सा.

अर्थात् हे भव्य ! जो भव्य जीव सम्यक चारित्र, दर्शन, ज्ञान में स्थित हो रहा है वह निश्चय से स्वसमय जानो और जो पुद्गल कर्म प्रदेशों में स्थित है उसे परसमय जानो।

इस तरह जो यति स्वसमय एवं पर समय में से स्वसमय को मुख्य रूप से स्वीकार कर तथा अन्य परसमय को गोण करने के मार्ग बोध के प्रकाश करने वाले हैं, व्यवहार नय को दिखलाने वाले, परनिंदा करने वाले एवं कामदेव मोह को जीतने वाले आचार्य प्रतिष्ठा प्राप्त अन्योन्य यति गणों के द्वारा पूजनीय तथा शुद्ध सम्यक चारित्र वान होते हैं। ऐसे चारित्रवान, नय पथ प्रदर्शक आचार्य सर्वज्ञ मान्य तथा संघ, गणगच्छादि का उद्धार करने वाला होता है ॥२०/२१॥

उन्मार्गनिग्रह हेतु कदम

जह गुरुकम परिहीणो, जइ कोवि मणुस्सओ **समायरओ।**
तो तस्स णिग्गहट्ठं, चउविह संघोपवट्ठेदि ॥२२॥

अन्वयार्थ-(जह गुरुकम परिहीणो) यथा गुरु क्रम/परम्परा से रहित, (जइ) यदि (कोवि मणुस्सो) कोई भी मनुष्य(समायरओ) आचरण करता है। (तो तस्स) तो उसके (णिग्गहट्ठं) निग्रह/अवरोध/रुकावट के लिए (चउविह) चतुर्विध (संघोपवट्ठेदि) संघ युक्ति पूर्वक स्थापन करता है ॥२२॥

अर्थ-यदि कोई भी मनुष्य यथा गुरु-क्रम परम्परा का ह्रास करके समाचरण-आचरण करता है तो उसके निग्रह के लिए आचार्य पुनः चतुर्विध संघ में युक्ति पूर्वक संस्थापित करते हुए व्रत में स्थिर करता है। अर्थात् उसका निग्रह करना योग्य है ॥२२॥

शिष्य निग्रह विधिः-

पिल्लेदूण रडंत पि जहा बालस्स मुहं विदारित्ता।
पज्जेइ घदं माया तस्सेव हिंद विचिंतंती ॥४७९॥
तह आयरिओ वि अणुज्जस्स खवयस्स दोस णी हरणा।
कुणदि हिदं पे पच्छा होहिदि कडुओसहं वत्त ॥४८०॥
पाएणवि ताडिंतो स भद्दओ जत्थ सारण अत्थि ॥४८१॥
आदट्ठमेव जे चिंतेदु मुट्ठिदा जे परट्ठमवि लोगे।
कडुय फरुसेहिं ते हु अदि दुल्लहा लोए ॥४८३॥ भ. आ.

अर्थात् जो जिसका हित करना चाहता है वह उसको हित के कार्य में बलात् प्रवृत्ति कराता है जैसे हित करने वाली माता अपने रोते हुए बालक का भी मुंह फाड़कर उसे घी पिलाती है॥ उसी प्रकार आचार्य भी मायाचार धारण करने वाले क्षपक को जबरदस्ती दोषों की आलोचना करने में बाध्य करते है, तब वह क्षपक अपने दोष कहता है जिससे कि उस शिष्य का हित हो। जैसे कटु औषधि पीने के बाद रोगी का कल्याण -रोग निवारण होता है। लातों से शिष्यों को ताड़के हुए भी शिष्य को दोषों से-अनीति मार्ग से अलिप्त रखता है वही गुरु हित करने वाला समझना चाहिए॥ जो पुरुष आत्महित के साथ-साथ, कटु एवं कठोर शब्द बोलकर परहित भी साधते हैं वे जगत में अतिशय दुर्लभ समझने चाहिये॥ एवं यही तो आचार्य का कर्तव्य है

जो कि वह जन्मदात्री माता से भी अधिक हित कारक होता है ॥४७९॥ से ४८३॥

यही आचार्य प्रवर कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य गुरु क्रम परम्परा नीति मार्ग का उल्लंघन करता है। और उन्मार्ग में गमन करता है तो उसको रोकने के लिए अथवा निग्रह करने के लिए संघ नायक आचार्य उस उन्मार्गी यति या श्रावक को दण्ड की चारों नीतियों का आश्रय लेते हुए पूर्व स्थापित संयम मार्ग में पुनः स्थितिकरण करता है एवं चतुर्विध श्रमण श्रृंखला में उस यति को स्थापित करता है ऐसा ही भगवती आराधनाकार लिखते हैं।

तस्सवि पइठाणट्ठं, परूवियो विहिविसेसेणं किंपि।

दिक्खा कज्जो य पुणो, उवयारं होइ णियमेण॥२३॥

अन्वयार्थ-(तस्सवि) उसकी भी पुनः (पइठावणट्ठं) प्रतिष्ठापना के लिए (किंपि) जो कुछ भी (परूवियो विहि विसेसेणं) आगम प्ररूपित विधि विशेष/विशेष विधि के द्वारा (पुणो) पुनः (दिक्खा कज्जो) दीक्षा करना योग्य है, (णियमेण) निश्चय से (उवयारं होइ) उपकार करने वाला होता है ॥२३॥

अर्थ-उन्मार्गी उस शिष्य के संयम प्रतिष्ठापना के लिए प्ररूपित विधि विशेष के द्वारा दीक्षा कार्य भी नियम से उपकाररूप होता है या उपचाररूप होता है ॥२३॥

विशेष-आठवीं संयम प्रतिष्ठापना हेतु परम्परागत विधि की विशेषता के कारण दीक्षा धारण को भी महान उपकार एवं प्रशंसनीय कहा है जैसाकि पद्मनन्दि आचार्य श्रेष्ठ ने अपने पंचविंशतिका ग्रन्थ में कहा है-

मनुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादयस्तेष्वे-वाप्तवचः श्रुतिः स्थितिरतस्याश्च दृग्बोधने। प्राप्ते ते अतिनिर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते, स्वर्मोक्षैक फलप्रदे स च कथं न लाध्यते संयम॥९७१॥

अर्थात् इस संसारी प्राणी को मनुष्यत्व, उत्तमजात्यादि, जिनवाणी श्रवण, दीर्घ आयु, सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान ये सब मिलने उत्तरोत्तर अधिक-अधिक दुर्लभ है। ये सब संयम-जिन व्रत के बिना स्वर्ग एवं मोक्षरूप अद्वितीय फल को नहीं दे सकते। इसलिए संयम कैसे प्रशंसनीय नहीं है। अर्थात् नियम से प्रशंसनीय-महान उपकार स्वरूप है ॥२३॥

लग्न विचार-

दिक्खा लग्गदो जइ वाणरिओ रूद्द संठियो सुहओ।

सूरो चंदो विइओ, तइयो छट्ठो य च रूद्देसु ॥२४॥

अन्वयार्थ-(दिक्खा लग्गदो) दीक्षा लग्न (जइ) यदि (रुद्द संठिओ) रुद्र में स्थित है तो (सुहओ) शुभ है। (सूरो चंदो) सूर्य और चन्द्र (विइओ) दूसरा (तइओ) तीसरा, (छट्ठोय) और छट्ठा हो तो (रुद्देसु) स्थान में हो तो शुभ है ॥२४॥

अर्थ-यदि जिन दीक्षा लग्न रुद्र ग्रह में स्थित हो तो सुभग है और सूर्य, चन्द्र द्वितीय, तृतीय एवं छठे स्थान हो तो मुनिरुद्र शुभ होता है ॥२४॥

विशेष-यहां गाथा २४ में लग्नादिका वर्णन करते हैं जो कि जिन दीक्षा के योग्य एवं अयोग्य है। सर्व प्रथम उपर्युक्त आये हुए रुद्र ग्रह से क्या तात्पर्य है:

(१) लग्न स्थान प्रथम भाव और सप्तम भाव में जो अष्टम स्थान का स्वामी हो इन दोनों में जो बलवान हो वह रुद्र ग्रह है।

(२) इन दोनों अष्टमेशों में दुर्बल भी पाप ग्रह से देखा जाता हो तो वह रुद्र ग्रह कहलाता है।

(३) बलवान रुद्र ग्रह की दृष्टि हो तो अल्पायु होता है।

ज्योतिष शास्त्रानुसार भाव एवं लग्न दोनों ही १२-१२ होते हैं।

भाव १२-

(१) तनु/लग्न (२) धन (3) सहज/भ्राता (४) सुहृद/सुख (५) पुत्र
(६) रिपु (७) स्त्री (८) मृत्यु (९) धर्म (१०) कर्म
(११) आय (१२) व्यय॥

लग्न-१२-

(१) मेष (२) वृष (३) मिथुन (४) कर्क (५) सिंह
(६) कन्या (७) तुला (८) वृश्चिक (९) धनु (१०) मकर
(११) कुम्भ (१२) मीन॥

तइओ छट्ठो दसमो इक्कारसमो कुजो बुहो य सुहो।

लग्गगओ चउ पंचम सत्तम णव दसमो य गुरु ॥२५॥

अन्वयार्थ-(तइओ) तीसरा (छट्ठो) छठा (दसमो) दसवां (इक्कारसमो) ग्यारहवां (कुजो बुहो य) मंगल और बुध (सुहो) शुभ है। (लग्ग गओ) लग्न गत

(चउ) चौथा (पंचम) पांचवां (सत्तम) सातवां (णव) नवमां (दसमोय) और दसवां (गुरु) शुभ है ॥२५॥

अर्थ–लग्न से तीसरे, छठवें, दसवें एवं ग्यारहवें स्थान में मंगल और बुध तथा लग्न से चौथा, पांचवें, सातवें, नवमें और दसवें स्थान में गुरु का होना शुभ है ॥२५॥

तइओ छट्ठो णवमो दुवालसो सुंदरो हवे सुक्को।

बीओ पंचमगो अट्ठमो य एक्कारसो य सणी ॥२६॥

अन्वयार्थ–(तइओ) तीसरा (छट्ठो) छठवां (णवमो) नवमां (दुवालसो) बारहवां (सुक्को) शुक्र (सुंदरो) सुन्दर (हवे) होता है। (बीओ) दूसरा (पंचमगो) पांचवां (अट्ठमोय) आठवां (एक्कारसो य) और ग्यारहवां (सणी) शनी (सुंदरो) शुभ है ॥२६॥

अर्थ–लग्न से तीसरे, छठवें, नवमें तथा बारहवें स्थान में शुक्र शुभ होता है और लग्न से दूसरे, पांचवें, आठवें तथा ग्यारवें स्थान में शनि मनोहर अर्थात् शुभ है ॥२६॥

राशि स्थित ग्रह फल चक्र (गा. २४ से २६ तक)

ग्रह	राशि	फल
सूर्य, चन्द्र	२,३,६	शुभ
मंगल, बुध	३,६,१०,११	शुभ
गुरु	१,४,५,७,९,१०	शुभ
शुक्र	३,६,९,१२	शुभ
शनि	२,५,८,११	शुभ

ग्रह बल:-

मज्झिम बलं च किच्चा सणीचरं धिसणयं बलवंतं।

अबलं सुक्कं लग्गे ता दिक्खं दिज्ज सीसस्स ॥२७॥

अन्वयार्थ–(सणीचर) शनिचर/शनि को (मज्झिम बलं) मध्यम बल वाली करके (धिसणयं) बृहस्पति को (बलवंत) बलवान/बल वाला बनाकर (च) और (अबलं) बलहीन (सुक्कं) शुक्र हो (ता) उस (लग्गे) लग्न में (सीसस्स) शिष्य को (दिक्खं दिज्ज) दीक्षा देवे ॥२७॥

ज्योतिष शास्त्रानुसार:

अर्थ विशेष-ग्रह बल-बली ग्रह का तात्पर्य होता है अच्छा साथी-मित्र ग्रह या अच्छी दृष्टि, शुभ राशि में हो, शुभ ग्रह के बीच में हो, शुभ ग्रह के अंश में हो, उच्च या मित्र नवांश में हो।

जो ग्रह उच्च मूल त्रिकोण (५,७ स्थान/भाव), स्वगृही या मित्र गृही हो या स्व नवंशा द्रेष्काण आदि वर्ग में हो, ग्रह जो उच्च और नीच के घर में हो वह भी बलवान होता है।

(1) बली ग्रह:-उदित (उदय को प्राप्त), स्वक्षेत्री, मित्रक्षेत्री, उच्च मूल त्रिकोण या वर्ग में स्ववर्ग या मित्र के वर्ग में हो या उपर्युक्त बताये प्रकार से हो।

(२) जब ग्रह की किरणें पूर्ण तेज मय हों चाहें वह शत्रु आदि राशि या अंश में हो।

(३) चन्द्र को जब पूर्ण पक्ष प्राप्त हो पूर्ण चन्द्र हो।

(४) सूर्य को जब दिग्बल प्राप्त हो अर्थात् दशम घर में स्थित हो।

(५) दूसरे पंच तारा जब वक्री हो एवं कान्ति निर्मल हो। (सूर्य से सप्तम स्थान में स्थित ग्रह पूर्ण बली होता है।)

तात्पर्य दीक्षा काल में मध्यम बली शनि, पूर्णबली बुध एवं लग्न स्थान में अबली शुक्र की दशा में दीक्षा का मांगलिक कार्यक्रम करना चाहिए॥२७॥

ग्रह बलाबल :

अट्ठिक्कारस छट्ठम दुग पणसंठो सणी बल विहूणो।
मुत्तिगओ चउ सत्तम दसमो य गुरु हवे बलवं ॥२८॥

अन्वयार्थ-(अट्ठिक्कारस) आठवां, ग्यारहवां (छट्ठम) छठवां (दुग) दूसरा (पणसंठो) और पांचवां (सणी) शनि (बल विहूणो) बल विहीन होता है (मुत्तिगओ) मुक्तिगत यानि प्रथम स्थान गत (चउ) चौथा (सत्तम) सातवां (दसमो य) और दसवां (गुरू) गुरु (बलवं) बलवान (हवे) होता है॥२८॥

अर्थ-आठ, ग्यारह, छठवां, दूसरा और पांचवां अनिष्ट कारक शनि हो प्रथम स्थान तथा चौथा, सातवां और दसवां गुरु बलवान होता है।॥२८॥

छट्ठो दसमो सो तह अबलो सुक्को सुहो वयग्गहणे।
दो तइय पंच छट्ठेकारसमो तह बुहो य सुहो॥२९॥

अन्वयार्थ-(छट्ठो) छठवां (दसमो) दसवां (तह) तथा (सुक्को) शुक्र (अबलो) अबली/बलहीन होता है (दो) दूसरा (तइय) तीसरा (पंच) पांचवां (छट्ठेकार समो तह) छठवां और ग्यारहवां (बुहो) बुध (वयग्गहणे) व्रतग्रहण करने में (सुहो) शुभ होता है॥२९॥

अर्थ-छठवां, दसवां तथा ग्यारहवां शुक्र अबली होता है एवं दूसरा, तीसरा, पांचवां, छठवां तथा ग्यारहवां बुद्ध व्रत ग्रहण करने हेतु शुभ होता है ॥२९॥

तइये छट्ठे दसमें एक्कार सगोय मंगलो रम्मो।

सुक्कंगारय सणिणा सत्तमओ ससहरो असुहो ॥३०॥

अन्वयार्थ-(तइये) तीसरा (छट्ठे) छठवां (दसमें) दसवां (एक्कार सगोय) और ग्यारहवां (मंगलो) मंगल (रम्मो) रम्य/शुभ है। (सुक्कंगारय) शुक्र मंगल (सणिणा) शनि (सत्तमओ) सातवें में तथा (ससहरो) चन्द (असुहो) अशुभ है॥

अर्थ-तीसरे, छठे, दसवें और ग्यारहवें स्थान में स्थित मंगल रम्य-उत्तम/शुभ होता है। सातवें स्थान में शुक्र, मंगल चन्द्र तथा शनि अशुभ है ॥३०॥

ग्रह बल शुभाशुभ चक्र (गा. 28 से 30 तक)

ग्रह		बल
शनि	८,११,६,२,५	अबली/बलहीन
गुरु	१,४,७,१०	बलवान/सबली
शुक्र	६,१०	अबली
बुध	२,३,५,६,११	शुभ (व्रतग्राह्य)
मंगल	३,६,१०,११	शुभ
मंगल	७	अशुभ
शुक्र	७	अशुभ
शनि	७	अशुभ
चन्द	७	अशुभ

लग्न बला भाव में :

इय सम्मं णाऊणं लग्गबलं दिज्जए णरे दिक्खा।

लग्गेण विणा दिक्खा, मारइ णासेइ फेडेइ ॥३१॥

अन्वयार्थ-(इय) इस प्रकार (लग्गबलं) लग्न बल को (सम्मं) भली भांति (णाऊणं) जानकर (णरेदिक्खा) मनुष्य को दीक्षा (दिज्जए) देवें। (लग्गेण विणा) लग्न के बिना (दिक्खा) दी गई दीक्षा (मारइ) मारती है, (णासेइ) नाश करती है (फेडेइ) तथा दीक्षा च्युत करती है ॥३१॥

अर्थ-इस प्रकार लग्न के बल को भलिभांति जानकर मनुष्य को दीक्षा देवें। लग्न बल के बिना दी गई दीक्षा, दीक्षा आदि का घात करती है नष्ट करती है तथा दीक्षा च्युत करती है ॥३१॥

विशेष-उपरोक्त लिखे गये विधि के विधान को योग्य रीति से पूर्णतः जानकर अर्थात् उक्त बातों पर मध्यदृष्टि रखते हुए मोक्षेच्छु को जिन दीक्षा प्रदान करें अन्यथा लग्न बल के न रहते हुए दीक्षा देने से दीक्षक, दीक्षा धारणकर्ता एवं दीक्षा कार्य इन तीनों का घात करती है इससे संघ का भी अहित होता है।

दीक्षा में त्याज्य-

संकंति गहण बद्दलखंडं, तिहि भूमिकंप णिग्घोसा।

परिवेस पमुह दोसं विवज्जए अपमत्तेण ॥३२॥

अन्वयार्थ-(संकंति) संक्रान्ति (गहण) सूर्य-चन्द्र ग्रहण (बद्दल) बादल (खंड तिही) तिथि खंड/क्षयतिथि (भूमिकंप) भूमि कम्प/भूकम्प (णिग्घोसा) महान अव्यक्त शब्द भयंकर नाद तथा (परिवेश) परिवेष (पमुह दोसं) इत्यादि प्रमुख दोषों को (अपमत्तेण) निष्प्रमाद पूर्वक (विवज्जए) परित्याग कर देवें ॥३२॥

अर्थ-संक्रांति, ग्रहण, बादल खण्ड, तिथि का खण्डन, भूमि कम्प, निर्घोष तथा परिवेष आदि प्रमुख दोषों को अप्रमाद पूर्वक छोड़े ॥३२॥

विशेष-यहां आचार्य श्रेष्ठ विशेष परिस्थिति में दीक्षा का निषेध करते हुये कहते हैं कि जब संक्रान्ति हो अर्थात् ''संक्रान्तिः परिवर्तनम्'' सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थकार ने संक्रान्ति का अर्थ परिवर्तन बताया है। यहां ज्योतिष नियमानुसार पूर्व राशि से अगली राशि में ग्रह आने का नाम संक्रान्ति है। सम्पूर्ण ग्रहों की संक्रान्ति होती है। प्रत्येक ग्रह हर राशि में गमन करता है। जैसे-सूर्य संक्रान्ति में-मेष संक्रान्ति, वृष संक्रान्ति, मिथुन संक्रान्ति, कर्क संक्रान्ति, सिंह संक्रान्ति, कन्या संक्रान्ति, तुला संक्रान्ति, वृश्चिक संक्रान्ति, धन संक्रान्ति, मकर संक्रान्ति, कुंभ संक्रान्ति, मीन संक्रान्ति। इसी तरह चन्द्र की संक्रान्तियाँ भी होती हैं।

द्वितीय ग्रहणकाल-सूर्य ग्रहण तथा चन्द्र ग्रहण के भेद से ग्रहण दो प्रकार का होता है। जैनागम के अनुसार चन्द्र के नीचे राहु का विमान तथा सूर्य के नीचे केतु का विमान संचार करता है। ये दोनों छह मास में पर्व (क्रमशः पूर्णिमा-अमावस्या) की प्राप्ति होने पर चन्द्र और सूर्य को आच्छादित करते हैं ज्योतिर्विदों ने इस अवस्था को ही ग्रहण कहा है। यथा:

चरतीन्दोरधो राहुररिष्टोऽपि च भास्वतः।

षण्मासात् पर्वसंप्राप्ता वर्केन्दू वृणुतश्च-तौ ॥२२॥ लो. वि.

चन्द्र ग्रहण सूर्य ग्रहण समय–पूर्णमासी के निशा शेष प्रतिपदा की सन्धि में चन्द्र ग्रहण होता है और अमावस्या और प्रतिपदा की सन्धि में सूर्य ग्रहण होता है कृष्ण पडिया (प्रतिपदा) को जो नक्षत्र हो उससे सोलहवां नक्षत्र अमावस्या को पड़े और अमावस पडिवा मिले तो सूर्य ग्रहण होता है। जिस नक्षत्र पर सूर्य हो उससे १५ वां नक्षत्र पूर्णमासी को पड़े और रात्रि को पडिवा मिले तो चन्द्र ग्रहण हो। राहु की राशि में या राहु से २,६,७,१२ वीं राशि में सूर्य चन्द्र हो तो ग्रहण पड़े॥

इस प्रकार ग्रहण का वर्णन संक्षिप्त में कहा।

तृतीय तिथि खण्ड--जिसको दूसरे शब्दों में तिथि क्षय कहते हैं जब एक दिन में तीन तिथियाँ वर्तमान रहती हैं तो मध्यम तिथि का क्षय माना जाता है तथा जब एक दिन में दो तिथियाँ रहती है तो उत्तर तिथि का क्षय माना जाता है। यथा:

या एकस्मिन वासरे द्वयन्ता द्वयोस्तिथ्यो: यत्र समाप्ति: तत्रोत्तरा क्षय तिथि:

जैसे: गुरुवासरे घटिकाद्वयं तृतीया तदुत्तरं चतुर्थी षट-पंचाशद् घटिका पर्यंतं एवंमुत्तार चतुर्थी क्षयतिथि ।: एवं क्षय तिथिर्नष्टा,सूर्योदये वारस्या प्राप्ते:। फलं - कृत यन्मंगलं तत्र त्रिद्युस्पृगव मे तिथौ भस्मी भवति तत्सर्वं क्षिप्रमग्नौ यथेन्धनम् ॥ ज्यो. च ५

अर्थात् क्षय तिथि में तथा वृद्धि तिथि में दोनों ही अवस्थाओं में शुभकार्य वर्जित है॥

भूमिकम्प–भूकम्प–भूमि में हलन चलन का होना। यह अचानक होने वाला उत्पात हैं जैसे भूकम्प, उल्कापात भौम उत्पात ये आकस्मिक उत्पात कहलाते हैं।

निर्घोष-निर्घोष अर्थात् अतिशय तीव्र आवाज मेघों की गर्जना, बिजली की गर्जना आदि। ये सब अन्तरिक्ष उत्पात हैं जैसे निर्घोष–निर्घात, परिवेष, इन्द्र धनुष, दिग्दाह आदि।

निर्घात–भयंकर शब्द करते हुए बिजली गिरने का नाम निर्घात है अथवा पवन के साथ पवन टकरा कर गिरता है तब जोर से कड़कड़ाहट शब्द होता है जब वही निर्घात कहलाता है।

परिवेष–आकाश में कभी-कभी महल आदि दिखाई देते हैं।

सूर्य–चन्द्र के चारों तरफ अनेक रंग की किरणों का जो घेरा दिखाई देता है वही परिवेश है सूर्य–चन्द्र की किरण पर्वत के ऊपर प्रतिबिम्बित होकर पवन के द्वारा मण्डलाकार होकर थोड़े से मेघ वाले आकाश में अनेक रंग और आकार के दिखते हैं वही परिवेष है अथवा वर्षा ऋतु में सूर्य या चन्द्रमा के चारों ओर एक गोलाकार

अथवा अन्य किसी आकार में एक मण्डल सा बनता है इसी का नाम परिवेष है।

प्रशस्तान् प्रशस्तांश्च यथावदनु पूर्वतः ॥१/४॥ भ. सं

अर्थात् प्रशस्त एवं अप्रशस्त के भेद से परिवेष दो प्रकार का है॥

पंच प्रकार विज्ञेयाः पंच वर्णाश्च भौतिकाः।

ग्रह नक्षत्रयोः काल परिवेषाः समुत्थिताः॥२/४॥ भ. सं

अर्थात् पांच वर्ण एवं पांच भूतों-पृथ्वी, जल अग्नि, वायु और आकाश की अपेक्षा से परिवेष पांच प्रकार के जानना चाहिए। ये परिवेष ग्रह एवं नक्षत्रों के काल को पाकर होते हैं॥

तात्पर्य-जिन दीक्षा में संक्रान्ति, चन्द्र ग्रहण अथवा सूर्य ग्रहण, बादलों का खण्डन होना, भूमि कम्पन होना, अतिशय तीव्र आवाज के साथ मेघ गर्जना होना, परिवेष एवं आदि शब्द से उल्कापात, वायु प्रकोप, गन्धर्व नगर, दिग्दाह चर-स्थिर पदार्थ से विकार होना, रण्णु धूलि आदि प्रकोपों का समझ लेना चाहिए।

प्रशस्त-तिथि नक्षत्र-योग-लग्न ग्रहांशके।

यद्दीक्षा ग्रहणं तद्धि पारिव्राज्यं प्रचक्ष्यते॥१५७॥

दीक्षा योग्यत्व माम्नांत सुमुखस्य सुमेधस ॥१५८॥

ग्रहोपराग ग्रहणे परिवेषेन्द्रचापयोः/

वक्र ग्रहोदये मेघ पटल स्थगिततेऽम्बरे॥१५९॥

नष्टाधिमास दिनयेः संक्रान्तौ हानिमत्तियौ।

दीक्षा विधिं मुमुक्षुणा नेच्छन्ति कृतःबुद्धयः॥१६०/३९॥ आ. पु.

अर्थात् मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष को शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग, शुभ लग्न और शुभ ग्रहों के अंश में निर्ग्रन्थ आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण करना चाहिए॥ योग्य पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करने योग्य माना है। जिस दिन ग्रहों का उपराग हो, दुष्ट ग्रहों का उदय हो, आकाश मेघ पटल से ढका हो, नष्ट मास (हीन मास) हो अथवा अधिक मास का दिन हो, सूर्य-चन्द्र पर परिवेष (मण्डल) हो, इन्द्र धनुष उठा हो, संक्रान्ति हो अथवा क्षय तिथि हो। उस दिन बुद्धिमान आचार्य मोक्ष की इच्छा करने वाले भव्यों के लिए दीक्षा की विधि नहीं करनी चाहिए अर्थात् उस दिन किसी शिष्य को नवीन दीक्षा नहीं देते हैं॥

शुभ मुहूर्त

शुभ तिथिः-	२,३,५,७,१०, ११, १२,
शुभ नक्षत्रः-	मृग, आर्द्रा हस्त,स्वाति, ३ उत्तरा, चित्रा, अनुराधा ज्येष्ठा श्रवण धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वा भाद्र पद, रेवती, रोहिणी ये नक्षत्र शुभ हैं
शुभयोगः-	प्रीति आयुष्मान, सौभाग्य, सुकर्मा, वृद्धि, ध्रुव, सिद्धि, साध्य शुभ, शुक्ल एवं ऐन्द्र योग।
शुभलग्नः-	स्थिर राशि-२, ५, ८, ११ तथा इसके नवांश में
शुभ वारः-	रविवार, गुरुवार, शुक्रवार
शुभमाहः-	वैशाख, श्रावण, आश्विन, कार्तिक, मगसर, माघ,फाल्गुन।
गोचर शुद्धि ग्रहः-	गुरु, रवि, चन्द्र।

एक अन्य मत -सोम, मंगल, बुध और शुक्र ये वार , १,६,११,५ व १० ये तिथि अश्विनी, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, हस्त, विशाखा, मूल श्रवण तथा पूर्वा भाद्रपद ये नक्षत्र। वार तिथि, नक्षत्र इन तीनों का योग मिलने पर दीक्षा ग्रहण तथा व्रत ग्रहणादि कार्य करने में शुभ है॥३२॥

जइ विह मूलगुणाणं परिणमणं भत्ति बीय तण्णामं।
कीरंति अपमत्ता ततो बिंबुंव्व णमणेओ॥३३॥

अन्वयार्थ-(जइ विह) जिस विधि से (मूल गुणाणं) मूल गुणों का (परिणमणं) परिणमन /परिपालन होता है। (तण्णामं बीयं) उसका दूसरा नाम (अपमत्ता) निष्प्रमाद/यत्न पूर्वक (कीरंति) किया /रखा जाता है (ततो) उसके बाद (बिंबुव्व) बिम्ब/जिनबिम्ब की तरह (णमणेओ) नमन करने योग्य होता है॥३३॥

अर्थ-जिस विधि से मूलगुणों का परिणमन परिपालन वर्तन होता है उसी का दूसरा नाम भक्ति है। उसी भक्ति से वह प्रमाद रहित प्रतिबिम्ब की तरह नमन करने योग्य होता है॥३३॥

अर्थात् सूरि पद दीक्षक भक्ति पूर्वक मूलगुणों में परिणमन/आचरण करता है वह उसी परम भक्ति के द्वारा प्रमाद रहित होकर दीक्षा की विधि के प्रकाशक अरहंत परमगुरु तथा दीक्षा दाता आचार्य को भक्ति पूर्वक विनय पूर्वक नमन एवं वंदन करता है। यह भक्ति की विशेष प्रक्रिया है। उस सूरि पद संस्कार के बाद वह जिनबिम्ब की तरह नमस्कार करने योग्य/नमनीय होता है॥३३॥

ग्रह दशा

लग्नस्थान गत ग्रहः

बुह गुरु सुक्को लग्गे, सुहया चंदोदु मज्झिमो लग्गे

अंगार सूर सणिणो, मुत्ति गया णासगो, होंति ॥३४॥

अन्वयार्थ–(लग्गे) लग्न में (बहु) बुध (गुरु) गुरु तथा (सुक्को) शुक्र (सुहया) शुभ होता है। (चंदो दु) चन्द्र भी (लग्गे) लग्न में (मज्झिमो) मध्यम माना गया है (मुत्ति गया) लग्नगत (अंगार) मंगल (सूर) सूर्य तथा (सणिणो) शनि (णासगो) नाश करने वाला (होंति) होता है ॥३४॥

अर्थ–लग्न में बुध, गुरु और शुक्र शुभ है, लेकिन चन्द्र मध्यम माना जाता है तथा लग्न गत सूर्य, मंगल और शनि चले जाने पर नाशक अशुभ है ॥३४॥

द्वितीय धन भाव/स्थान गत ग्रहः

बीआ बुह गुरु सणिणो रम्मा सुक्को हवे परं मज्झो।

कज्जस्स विणासयरा, सणि दिणयरा मंगलादीया ॥३५॥

अन्वयार्थ–(बीआ) दूसरे में (बुह-गुरु-सणिणो) बुध, गुरु और शनि (रम्मा) रम्य है किन्तु (सुक्को) शुक्र (मज्झो) मध्यम (हवे) होता है। (सणि) शनि (दिणयरा) तथा दिनकर/सूर्य (मंगलादीया) मंगल आदि (कज्जस्स) कार्य का (विणासयरा) विनाश करने वाला होता है ॥३५॥

अर्थ–दूसरे धन भाव में बुध, गुरु और शनि उत्तम है किन्तु शुक्र मध्यम माना जाता है तथा शनि, और सूर्य मंगलादि कार्य का विनाश करने वाले अशुभ होते हैं ॥३५॥

तृतीय सहज भावगत ग्रहः

रवि-ससि-कुज-बुह-सणिणो, सुहया तइया गुरु वि मज्झिमओ।

सुक्को तइयो णूणं, दुट्ठो मुणि भासियं लग्गं ॥३६॥

अन्वयार्थ–(तइया) तीसरे (भाव) में (रवि) सूर्य (ससि) चन्द्र (कुज) मंगल (बुह) बुध (सणिणो) तथा शनि (सुहया) सुभग/शुभ है (गुरु वि) किन्तु गुरु (मज्झिमओ) मध्यम माना गया है (सुक्को) शुक्र (तइयो) तीसरा (दुट्ठो) दुष्ट होता है (ऐसा) (लग्गं) लग्न (मुणि भासियं) मुनि के द्वारा कहा गया है ॥३६॥

अर्थ–तीसरे सहज भाव में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध और शनि शुभ है तीसरा गुरु

भी मध्यम है एवं तीसरे स्थान (भाव) में शुक्र का स्थित होना मुनि के द्वारा दोष युक्त -अशुभ कहा गया है ॥३६॥

चतुर्थ सुहृत् भाव गत ग्रहः

बुह गुरु सुक्का सुहया, वेंथगया मज्झिमो हवे चंदो।

सेसा सव्वे-विगहा, विवज्जिया पयत्तेण ॥३७॥

अन्वयार्थ-चौथे भाव में (बुह) बुध (गुरु) गुरु (सुक्का) शुक्र (सुहया) शुभ होते हैं। चौथे में (चंदो) चन्द्र (मज्झिमो) मध्यम (हवे) होता है (सेसा) शेष (सव्वे विगहा) सभी ग्रह (पयत्तेण) प्रयत्न पूर्वक (विवज्जिया) परिहार करना चाहिए ॥३७॥

अर्थ-चौथे सुहृत् (सुख) भाव में बुध, गुरु, शुक्र सुख देने वाला शुभ होता है तथा बलवान चन्द्र मध्यम है एवं शेष सभी ग्रह -सूर्य, मंगल और शनि ग्रह प्रयत्न पूर्व परिहार-छोड़ना चाहिए ॥३७॥

विशेष-बल सूत्र-

शुक्लादि रात्रि दशकेऽहनि मध्यवीर्य

शाली द्वितीय-दशकेऽतिशुभ प्रदोऽसौ।

चन्द्रस्तृतीय-दशके बलवर्जितस्तु-

सौम्येक्षणादि-सहितो यदि शोभनः स्यात् ॥१०॥

अर्थात् शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से दश दिन चन्द्रमा मध्यम बली होता है, फिर दश दिन-शुक्लपक्ष एकादशी से कृष्णपक्ष पंचमी तक पूर्ण चन्द्र-(बलवान चन्द्र) अतिशुभप्रद होता है। फिर दश दिन-कृष्ण पक्ष की षष्ठी से अमावस तक बलहीन चन्द्र होता है। यदि अशुभ क्षीण बली चन्द्र शुभ ग्रह बुध, गुरु, शुक्र, और केतु से दृष्टयुत हो तो शुभ दायक होता है।

पंचम भाव गत ग्रहः

रवि ससि कुज सुक्क सणी, पंचमगा मज्झिमा मुणेयव्वा।

बुह गुरु विय दुण्णवि, मंगल माहप्प-कत्तारो ॥३८॥

अन्वयार्थ-(पंचम) लग्न से पांचवें भाव में (रवि ससि कुज सुक्क सणी) सूर्य, चन्द्र मंगल, शुक्र और शनि (मज्झिमा) मध्यम होते हैं। (बुह गुरु विय) बुध और गुरु

विद्वानों द्वारा (दुण्णिवि) ये दोनों ही (मंगल महाप्प कत्तारो) मंगल महात्म्य को करने वाले (मुणेयव्वा) मानना चाहिए ॥३८॥

अर्थ-यदि दीक्षा लग्न से पांचवें भाव में सूर्य, चन्द्र, मंगल, शुक्र एवं शनि हो तो मध्यम तथा बुध और गुरु ये दोनों ही ग्रह पांचवें में हो तो आत्मा के लिए महा मंगल करने वाले उत्तम जानना चाहिए ॥३८॥

षष्ठम् भावगत ग्रहः

ससि रवि कुज गुरु सणिणो, छट्ठे ठाणम्मि रम्मिगा होंति।
सुक्क बुहापि य छट्ठा, मज्झिम गया केवलं णूणं॥३९॥

अन्वयार्थ-(छट्ठे) छठे (ठाणम्मि) स्थान में (ससि रवि कुजगुरु) चन्द्र, सूर्य, मंगल, गुरु और (सणिणो) शनि हो तो (रम्मिगा) रम्य/उत्तम (होंति) होता है। (सुक्क बुहापि य)शुक्र और बुध भी (छट्ठा) छठे स्थान में (मज्झिम) मध्यम (गया) माना गया है (केवलं णूणं) ऐसा अद्वितीय माना है ॥३९॥

अर्थ-छठे रिपु स्थान में चन्द्र, सूर्य, मंगल, गुरु, और शनि रम्यमनोहर होते हैं तथा शुक्र और बुध भी छठे स्थान में मध्यम अद्वितीय माना गया है। ॥३९॥

सप्तम् स्त्रीमित्र भावगत ग्रहः

सत्तमगो सुरमंतो सुहओ, ससि सुक्क बुहय मज्झत्था।
सणि मंगलाओ णूणं, वज्जेयव्वा पयत्तेण॥४०॥

अन्वयार्थ-(सत्तमगो) लग्न से सातवें भाव में (सुरमंतो) सुरमंत्री/वृहस्पति (सुहया) शुभ होता है (ससि सुक्क बहुय) चन्द्र, शुक्र और बुध (मज्झत्था) मध्यम स्थित माना गया है किन्तु (सणि मंगलाओ) शनि और मंगल (णूणं) हीन/निन्दनीय (पयत्तेण)प्रयत्न पूर्वक (वज्जेयव्वा) छोड़ देना चाहिए ॥४०॥

अर्थ-सातवें स्त्री स्थान में या मित्र स्थान में बृहस्पति (गुरु) शुभ है, सातवें चन्द्र, शुक्र और बुध मध्यम होते हैं किन्तु शनि और मंगल निन्दनीय हैं अतः प्रयत्नपूर्वक परिहार करना चाहिए ॥४०॥

अष्टम् मृत्यु भाव गत ग्रहः

अइच्च चंद मंगल, बुह गुरु सुक्का विवज्जिया अट्ठा।
मज्झिमओ मंद गई, णवम्मि सुहावहा एदे॥४१॥

अन्वयार्थ-(अट्ठा) आठवें भाव में (अइच्च) आदित्य/रवि, (चंद मंगल) चन्द्र, मंगल, (बुह गुरु सुक्का) बुध, गुरु और शुक्र (विवज्जिया) परिहार करना चाहिए

आठवां शनि (मज्झिमओ) मध्यम होता है किन्तु (एदे) ये ही (मंद गई) मंद गति वाले ग्रह (णवम्मि) नवमें स्थान में (सुहावहा) सुख प्रद/सुख प्रदान करने वाले होते हैं ॥४१॥

अर्थ-आठवें मृत्यु आयु भाव में सूर्य,चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, और शुक्र का परित्याग करना चाहिए यदि आठवां चन्द्र शनि हो तो मध्यम होता है एवं नवम धर्म भाव में मंद गति वाले ये ही ग्रह-सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु और शुक्र मध्यम सुख प्रदान करने वाले जानना चाहिए ॥४१॥

विशेष-

सूर्य के प्रभाव से ग्रह की शीघ्र मंद गति

(१)	शीघ्र गति-	सूर्य के दूसरे स्थान में ग्रह।
(२)	सम गति-	सूर्य के तीसरे स्थान में ग्रह।
(३)	मंद गति-	सूर्य के चौथे स्थान में ग्रह।
(४)	कुछ वक्र एवं वक्र-	सूर्य के पांचवें एवं छठवें स्थान में ग्रह।
(५)	अतिवक्र-	सूर्य के सातवें एवं आठवें स्थान में ग्रह।
(६)	कुटिल गति-	सूर्य के नवमें स्थान में ग्रह।
(७)	मार्गी गति-	सूर्य के दसवें स्थान में ग्रह।
(८)	शीघ्र गति-	सूर्य के ग्यारहवें स्थान में ग्रह।
(९)	अति शीघ्र गति-	सूर्य के बारहवें स्थान में ग्रह॥

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रहों की गति जानना चाहिए॥

ग्रह गति	फलादेश:	अवस्था	फल
वक्रीग्रह	परदेश भेजता है।	उदयगत ग्रह	सुख प्रदायक
मार्गी ग्रह	आरोग्यता देता है।	अस्तग्रह	आदर एवं धन नाशक
क्रूरग्रह वक्री	अतिक्रूर	ग्रहवक्री में	बलवान
शुभ ग्रह वक्री	शुभप्रद	ग्रह मार्गी में	कमजोर

नवम् धर्म भाव गत ग्रह:

देव गुरु सुक्कणामा, मज्झिमया बुह सणिच्चरा णूणं।
वज्जेयव्वा य सया, मंगल ससि दिणयरा णवमा ॥४२॥

अन्वयार्थ-(णवमा) नवमें भाव में (देव गुरु सुक्क णामा) बृहस्पति और शुक्र

हो तो (मज्झिमया) मध्यम होते हैं (बुह सणिच्चरा) बुध और शनिश्चर (णूणं) उसी के समान मध्यम होते हैं (णवमा) नवा (मंगल, ससि, दिणयरा य) मंगल, चन्द्र और सूर्य (सया) हमेशा (वज्जेयव्वा) वर्जनीय/परिहार करने योग्य हैं ॥४२॥

अर्थ–नवम धर्म भाव में बृहस्पति, गुरु और शुक्र मध्यम होते हैं। बुध और शनि उसी के समान मध्यम होते हैं किन्तु मंगल, चन्द्र और सूर्य का सर्वदा परिहार कर देना चाहिए ॥४२॥

दशम् कर्म भावगत ग्रह:

बुह सुक्क गुरु तिण्णावि, दसम्मि हवंति सव्व सिद्धियरा।
ससि सणिणो मज्झत्था, असुहा रवि मंगला णूणं ॥४३॥

अन्वयार्थ–(बुह सुक्क गुरु) बुध, शुक्र, और गुरु (तिण्णावि) ये तीनों ही (दसम्मि) दसवें भाव में (सव्व सिद्धियरा) सर्व सिद्धि को करने वाले (हवंति) होते हैं। दसवें में (ससि सणिणो) चन्द्र और शनि हो तो (मज्झत्था) मध्यम होता है। (रवि मंगला) सूर्य और मंगल हो तो (णूणं असुहा) हीन अशुभ है ॥४३॥

एकादस द्वादश आय व्यय भाव गत ग्रह:

इक्कारसमा सव्वे,सिद्धियरा बारसा महादुट्ठा।
एवं लग्गे रज्जे, बिंबाई पइट्ठए रम्मं ॥४४॥

अन्वयार्थ–(इक्कार समा) ग्यारहवें स्थान में (सव्वे) सभी ग्रह (सिद्धियरा) सिद्धि करने वाले तथा (बारसा) बारहवें स्थान में रहने वाले (महादुट्ठा) महादुष्ट/अशुभ दोष युक्त होते हैं। (एवं) इस प्रकार के (लग्गे) लग्न में (रज्जे) राज्य में (बिंबाई पइट्ठए) बिम्ब सूरिपद आदि प्रतिष्ठा करना (रम्मं) रम्य/शुभ होता है ॥४४॥

अर्थ–ग्यारहवें आय भाव में सम्पूर्ण ग्रह सर्वसिद्धि करने वाले होते हैं तथा बारहवें व्यय नामक स्थान में सर्व ग्रह महान दोष युक्त होते हैं। इस प्रकार के लग्न होने पर राज्य में बिम्ब, जिनदीक्षा सूरि पद आदि प्रतिष्ठा करना मन को हरण करने वाली रमणीय होती है ॥४४॥

विशेष–उपर्युक्त द्वादश भावों में क्रमश: ग्रहों के होने की योग्य अयोग्यता को आचार्य श्री ने दिग्दर्शन कराया जिसकी संक्षिप्त रूप से तालिका दी जा रही है। यथा:

द्वादश भावगत ग्रह फलादेश (गा. ३४ से ४४ तक)

क्रमांक भाव	ग्रह	फल
१ (१) तनु/लग्न	बुध, गुरु, शुक्र	शुभ
२ ,,	चन्द्र	मध्यम
३ ,,	सूर्य, मंगल, शनि	अशुभ/दीक्षा घातक
४ (२) धन	बुध, गुरु, शनि, मंगल	शुभ
५ ,,	शुक्र	मध्यम
६ ,,	रवि, शनि,	अशुभ/कार्यविनाशक
७ (३) सहज	सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, शनि	शुभ
८ ,,	गुरु	मध्यम
९ ,,	शुक्र	अशुभ/घातक
१० (४) सुख	बुध, गुरु, शुक्र	शुभ
११ ,,	बलीचन्द्र	मध्यम
१२ ,,	सूर्य, मंगल, शनि	अशुभ
१३ (५) संतान/विद्या	सूर्य, चन्द्र, मंगल, शुक्र, शनि	मध्यम
१४ ,,	बुध, गुरु	उत्तम/शुभ
१५ (६) शत्रु	चन्द्र, सूर्य, मंगल, गुरु, शनि	उत्तम
१६ ,,	शुक्र, बुध	मध्यम
१७ (७) स्त्री मित्र	गुरु	शुभ
१८ ,,	चन्द्र, बुध, शुक्र	मध्यम
१९ ,,	शनि, मंगल	अशुभ
२० (८) आयु	सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र	अशुभ
२१ ,,	शनि	मध्यम
२२ (९) भाग्य	सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र (मध्यम गति वाले)	शुभ
२३ (९) भाग्य/धर्म	गुरु, शुक्र	मध्यम
२४ ,,	बुध, शनि	मध्यम
२५ ,,	मंगल, चन्द्र, सूर्य	अशुभ
२६ (१०) कर्म	बुध, शुक्र, गुरु	शुभ/सर्व सिद्धि कारक
२७ ,,	शनि, चन्द्र	मध्यम
२८ ,,	सूर्य, मंगल	अशुभ
२९ (११) आय	सम्पूर्ण ग्रह	उत्तम शुभ
३० (१२) व्यय	,,	अशुभ

लग्न सम्बन्धि विशेष ज्ञातव्य:

जइ लग्गं ण वि लब्भइ, तुरियं कज्जं च जायदे अहवा।

तो धुव पयच्छयाइं, णिच्छल लग्गं गहेयव्वं ॥४५॥

अन्वयार्थ-(जइ) यदि इस प्रकार (लग्गं) लग्न (ण वि लब्भइ) नहीं मिले (अहवा) अथवा (कज्जं) दीक्षा कार्य को (तुरियं) शीघ्र ही (जायदे) करना हो तो (धुव पयच्छयाइं) ध्रुव पद छाया से (णिच्छल लग्गं) निश्चल स्थिर लग्न को (गहेयव्वं) ग्रहण करना चाहिए ॥४५॥

अर्थ-यदि इस प्रकार के लग्न न मिले अथवा मिले अपितु यदि दीक्षा का कार्य शीघ्र करना हो तो ध्रुव पद की छाया से निश्चल-स्थिर लग्न को ग्रहण करना चाहिए॥४५॥

विशेषार्थ-यहां आचार्य प्रवर पूर्व में लग्न, स्थान भाव एवं ग्रह के शुभाशुभ योग बतलाने के पश्चात् इस खास बात को स्पष्ट उल्लिखित करते हैं कि उपर्युक्त गाथाओं में लिखित लग्न यदि न मिले किन्तु मुक्ति का कारणभूत जिनदीक्षा का मांगलिक कार्य यदि शीघ्र ही करना ध्रुव अवश्यम्भावी है तो निश्चित/स्थिर लग्न-वृष, सिंह, वृश्चिक एवं कुम्भ लग्न को ग्रहण कर लेना चाहिए॥

अन्य पाठभेद से :

लग्न फलादेश तालिका

राशि-लग्न	चर	स्थिर	द्विस्वभाव
	मेष	वृष	मिथुन
	कर्क	सिंह	कन्या
	तुला	वृश्चिक	धनु
	मकर	कुम्भ	मीन
	जघन्य लग्न	उत्तम लग्न	मध्यम लग्न

तिरियट्ठियम्मि धुवए, करिज्ज दिक्खा पइट्ठमाईयं।

उद्धट्ठियम्मि तम्मि हु, करिज्ज ते हवइ दुमक्खाई ॥४६॥

अन्वयार्थ-(तिरियट्ठियम्मि) तिर्यग् स्थित (धुवए) ध्रुव पद में (दिक्खा पइट्ठमाईयं) दीक्षा-प्रतिष्ठा आदि (करिज्ज) करना चाहिए (उद्धट्ठियम्मि) उर्ध्व स्थित ध्रुव पद में यज्ञादिक (करिज्ज) करें (ते) तो वह (दुमक्खाइ) अक्षय वृक्ष/ अक्षय चारित्र

को अथवा संयम की स्थिरता (हवइ) होती है ॥४६॥

अर्थ-तिर्यग्मुख ऊर्ध्वमुख संज्ञक तथा ध्रुव संज्ञक नक्षत्र होने पर दीक्षा प्रतिष्ठा आदि कार्य करें तथा ऊर्ध्वमुख स्थित ध्रुवपद छाया में यज्ञादिक करें तो वह अक्षय वृक्ष-संयम की स्थिरता अथवा अक्षय चारित्र को प्रदान करती है ॥४६॥

विशेष-तिर्यग्मुख-रेवती, अश्विनी, ज्येष्ठा, अनुराधा, हस्त, चित्रा, स्वाति, मृगशिर एवं पुनर्वसु

ऊर्ध्वमुख-उ.भा., उ. फा. ,उ. षा., पुष्य, रोहिणी, श्रवण, धनिष्ठा एवं शतभिषा।

ध्रुव संज्ञक-उ. भा., उ. फा., उ. षा., रोहिणी/रविवार।

भरण्युत्तर फाल्गुन्यौ, मघा चित्रा विशाखिकाः।

पूर्वाभाद्र पदा भानि, रेवती मुनिदीक्षणे ॥१॥

रोहिणी चोत्तराषाढा उत्तराभाद्र पत्तथा।

स्वातिः कृत्तिकया सार्धं वर्ज्यते मुनि दीक्षणे ॥२॥ क्रि. क. सं.

अर्थात् भरणी, उत्तरा फाल्गुनी, मघा, चित्रा, विशाखा, पूर्वा भाद्रपद, रेवती मुनि दीक्षा में प्रशस्त है।

रोहिणी, उत्तराषाढ़ उत्तरा भाद्रपद तथा स्वाति, कृत्तिका आदि नक्षत्र मुनि दीक्षा में वर्जित हैं।

सारांश यह है कि रेवती अश्विनी आदि तिर्यग् मुख नक्षत्र तथा उत्तराषाढ़ आदि ध्रुव नक्षत्र वर्तमान हो तब संयम की स्थिरता और अक्षय चारित्र की सिद्धि हेतु जिन दीक्षा प्रदान की जानी चाहिए और जब उ. भा. आदि ऊर्ध्व मुख नक्षत्र हो तब यज्ञादि प्रशस्त कर्म करने चाहिए।

तणुच्छायाइ पयाइं सणि ससि सुक्केसु वसु वसु चणवलं।
अट्ठ बुहे णव भोमे मुणिरुद्दो गुरु रवी एसु ॥४७॥

अन्वयार्थ-(तणुच्छायाइं) अपने तनु/शरीर की परछाई (पयाइं) पैर तक पड़ती हो (वसु) द्वितीय धन भाव में (सणि ससि सुक्केसु) शनि, चन्द्र एवं शुक्र हो (गुरुरवी) गुरु और सूर्य हो तो (मुणिरुद्दो) मुनि पद के विरुद्ध/अयोग्य है ॥४७॥

अर्थ-अपने शरीर की छाया -परछाई पैर तर पड़ती हो/मध्यान्ह काल, वसु-द्वितीय धन स्थान-भाव में शनि, चन्द्र एवं शुक्र हो, आठवें में बुध नवें में मंगल तथा इन्ही आठवें एवं नवें भाव में गुरु एवं सूर्य हो तो मुनि दीक्षा का ग्रहण करना मुनि

पद के विरुद्ध अहितकर है ॥४७॥

सुयदेविमंत महिमा, अणिहय सुगुणादि मंत सत्तीए।

संघे आलोचित्ता, कायव्वं सूरि पइयणं ॥४८॥

अन्वयार्थ-(सुय देविमंत) श्रुतदेवी के मंत्र की (महिमा) महात्म्य (अणिहय) अनिहत है। (सुगुणादि मंत) उत्तम गुणों आदि की अतिशय मन्त्र (सत्तीए) शक्ति/सामर्थ्य के होने पर (संघे) चतुर्विध संघ के प्रत्यक्षता में (आलोचित्ता) आलोचना करते हुए (सूरि पइयणं) सूरि/आचार्य पद की प्रकृष्ट स्थापना (कायव्वं) करना चाहिए ॥४८॥

अर्थ-श्रुत देवी के मंत्र की महिमा-महात्म्य अनिहत है किसी के भी द्वारा उल्लंघन नहीं [illegible] कती है अर्थात् अकाट्य है, उस शिष्य में उत्तम गुणों की अतिशय योग्यता [illegible] ामर्थ्य देखकर चतुर्विध संघ के होने पर प्रकर्ष रूप से सूरि पद प्रतिष्ठा विधि पूर्वक स्थापना करना चाहिए॥४८॥

विशेष [illegible] महिमा।

जनयति मुदमन्त भव्य-पाथोरूहाणां,

हरति तिमिर-राशिं या प्रभा भानवीन।

कृत निखिल-पदार्थ-द्योतना भारतीद्धा,

वितरतु धुतदोषा सार्हतीं भारती व ॥१॥ सु. र. सं.

अर्थात् सरस्वती, सूर्य की प्रभा-आभा के समान ज्ञान प्रभा का विस्तार करने वाली है। सरस्वती देवी सूर्य के समान भव्य जीवों के अन्तः करण में हर्ष को उत्पन्न करती है, अज्ञान तिमिर राशि को नष्ट कर ज्ञानरूप प्रकाश करती है अभिप्राय सरस्वती की उपासना से अरहंत पद की प्राप्ति होती है॥

जिन्हें भारती आदि अनेक उत्तम नामों के द्वारा पुकारा जाता है जिनकी महिमा अपरम्पार है। योगी जन ही जिसकी थाह को पा सकते हैं इस तरह सरस्वती देवी की मंत्र महिमा-मंत्रशक्ति विशाल है। ऐसे उस श्रुत-द्वादशांग वाणी के द्वारा उस सूरि पद प्रतिष्ठा योग्य शिष्य की गुणादि की सामर्थ्यता को देखकर दीक्षा प्रदायक आचार्य मुख्यादि चतुर्विध संघ के होने पर यानि संघ की प्रत्यक्षता में सूरि प्रतिष्ठा विधिवत् स्थापन अर्थात् गुणारोपण करें ॥४८॥

दीक्षा स्थानादि वातावरण:

णिम्मले गामे णयरे, णिम्मल भूवाल संघ संजुत्ते।

फासुय भूमीए सदहत्थं, खेत्तं परिठ्ठवहु ॥४९॥

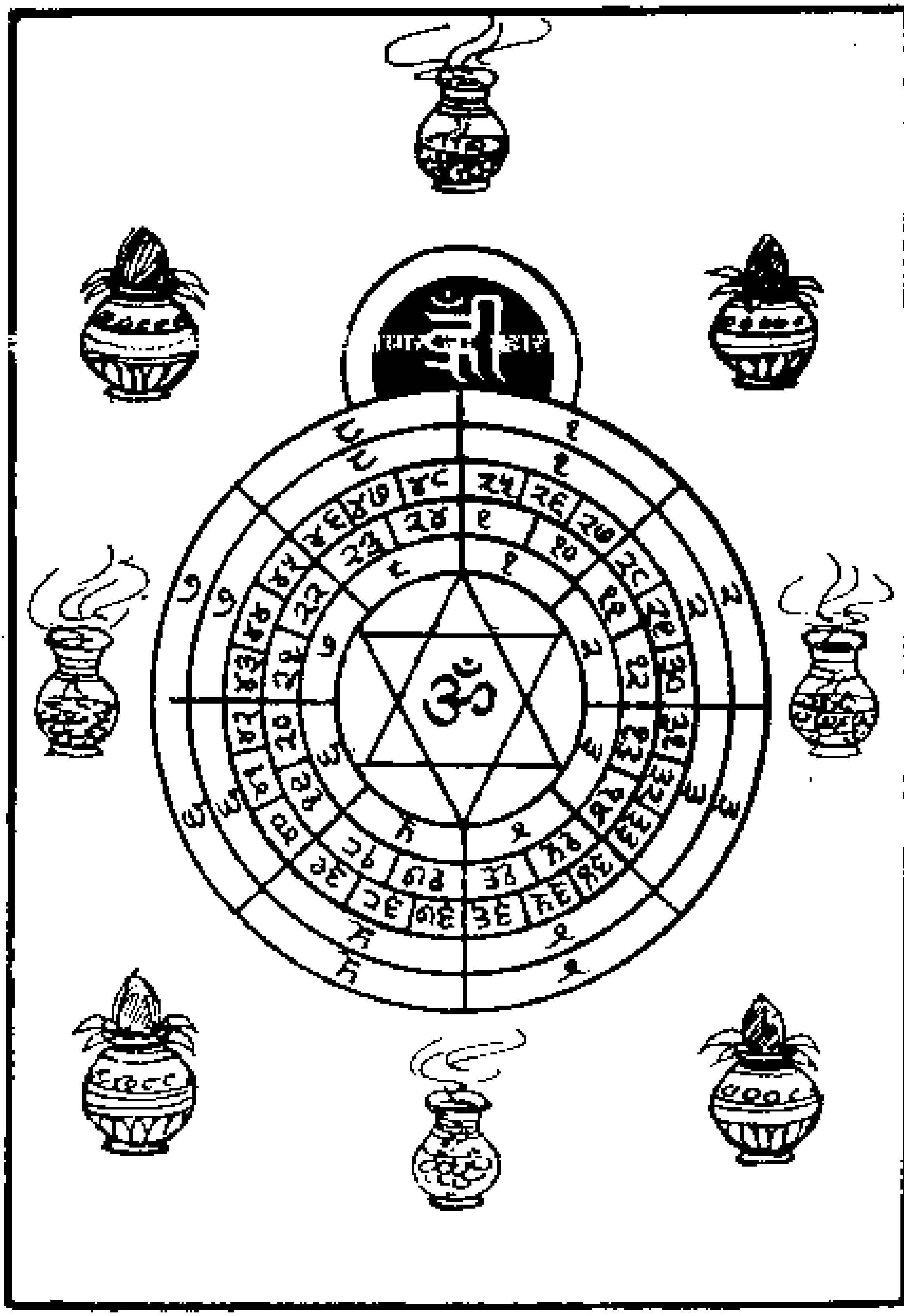

अन्वयार्थ-(णिम्मले) निर्मल (गामे) गांव में (णयरे) निर्मल नगर में (णिम्मल भूवाल संघे) निर्मल राजा और निर्मल संघ से (संजुत्ते) संयुक्त होने पर (सदहत्थं) शत/१०० हाथ (फासुय भूमीए) प्रासुक भूमि पर (खेत्तं) क्षेत्र में मंडप की (परिट्ठवहु) संस्थापना करना चाहिए ॥४९॥

अर्थ-निर्मल गांव तथा निर्मल नगर में, निर्मल राजा और निर्मल संघ से संयुक्त होने पर सो (१००) हाथ की प्रासुक भूमि पर क्षेत्र-मंडप की संस्थापना करें या आयोजित करना चाहिए ॥४९॥

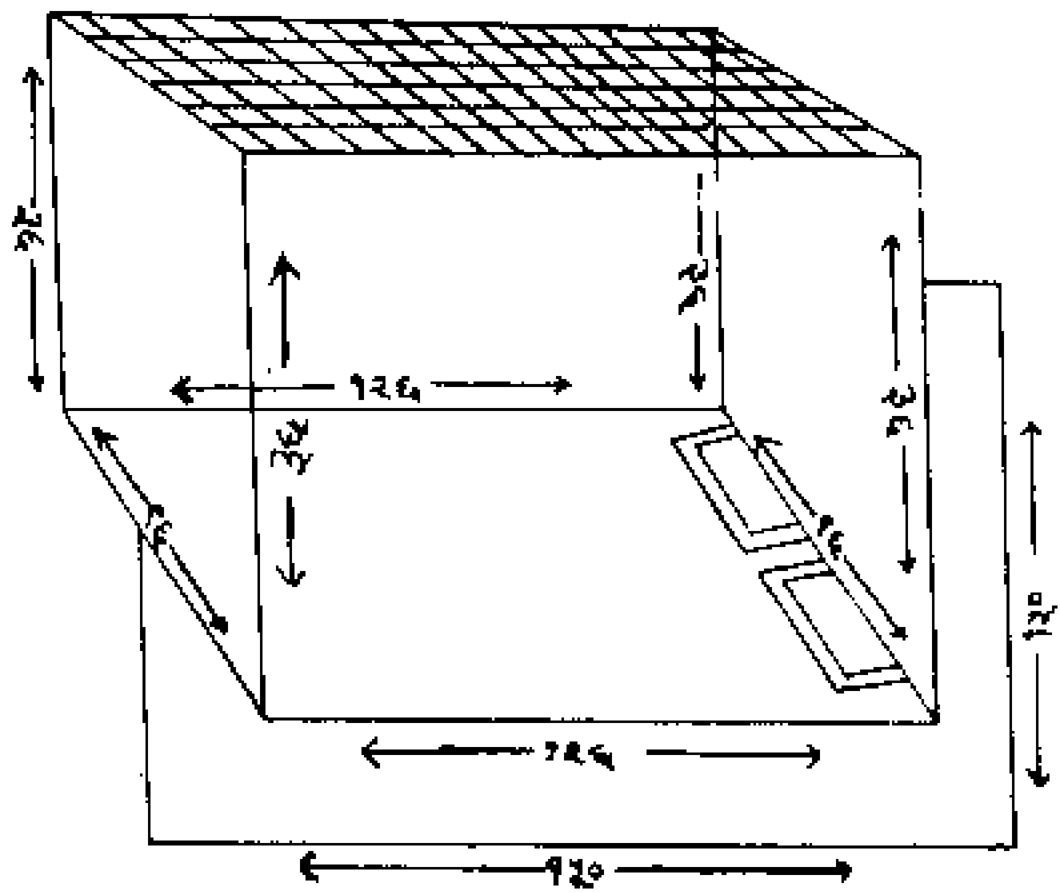

मण्डप रचना एवं वेदी प्रमाण:

विशेष- जिस गांव एवं नगर में जन मानस जिन दीक्षा का विरोध न करे धर्म भावना से परिपूर्ण उस स्थान विशेष को निर्मल गांव तथा निर्मल नगर कहा है। इसी प्रकार जिन दीक्षा का विरोध न करने वाला सम्यग्दृष्टि राजा तथा चतुर्विध संघ छआयतन

से परिपूरित निर्मल राज्य एवं निर्मल संघ कहलाता है इसीलिए चतुर्विध संघ की सानिध्यता का तथा जन मानस की सानिध्यता का आचार्य प्रवर ने निर्देश दिया है। इस प्रकार सम्पूर्ण वातावरण की अनुकूलता होने पर १०० हाथ (१५० फुट) प्रमाण प्रासुक एकेन्द्रिय आदि सूक्ष्म जीव रहित, सूक्ष्म बिल, छिद्र आदि से रहित ठोस भूमि पर जिन दीक्षा प्रतिष्ठापन महान उत्सव करने के लिए मण्डप की स्थापना करना चाहिए॥

अथवा

अह चउरसीदिहत्थं, चउसट्ठिय चदुवीसं परिमाणं।

खेत्तं किज्जा शुद्धं, वेदिजुगं भूमि माणेण ॥५०॥

अन्वयार्थ-(अह) अथवा (चउरसीदि हत्थं) चौरासी हाथ (चउसट्ठिय) चौंसठ हाथ (चदुवीसा) चौबीस हाथ (परिमाणं) प्रमाण/नाप (खेत्तं) क्षेत्र को (शुद्धं किज्जा) शुद्ध करके (भूमि माणेण) भूमि मान/भूमि प्रमाण के अनुसार (वेदिजुगं) युगल वेदी का निर्माण करना चाहिए।

अर्थ-अथवा ८४ हाथ (१२६ फुट) या ६४ हाथ (९६ फुट) अथवा २४ हाथ (३६ फुट) प्रमाण क्षेत्र को शुद्ध करना चाहिए। भूमि मापानुसार उसमें युगल (२) वेदी का निर्माण करना चाहिए ॥५०॥

विशेष-भूमिको शुद्ध करने की विधि:

खात्वा विशोध्य संपूर्य समीकृत्य पवित्रिते।

भूभागे मंडपं कार्यं पूगक्षीर द्रुमादिभिः ॥४/४॥ प्र. ति.

अर्थात् यज्ञ सिद्धि के लिए उपकरणों को तैयार करके सर्व प्रथम शान्तिविधान करें तदनन्तर मंडप वेदी आदि निर्माण करें। भूमि खोदकर, शोधकर पुनः उसे भरकर समान करें ऐसी पवित्र भूमि पर उम्बर आदि वृक्ष की लकड़ी से मंडप तैयार करें।५०॥

चक्र रचना:

कायव्वं तत्थ पुणो गणहर वलयस्स पंच वण्णेण।

चुण्णेण य कायव्वं उद्धरणं चारु सोहिल्लं ॥५१॥

अन्वयार्थ-(पुणो) उसके बाद (तत्थ) वहां (पंच वण्णेण चुण्णेण) पांच वर्ण (रंग) के चूर्ण से (गणहर वलयस्स) गणधर वलय का (चारु) सुन्दर (य) और (सोहिल्लं) शोभा युक्त (उद्धारणं) ऊपर उठाते हुए (कायव्वं) बनना चाहिए॥५१॥

अर्थ-फिर वहां पर पंच वर्णों के चूर्ण से गणधर वलय यंत्र का सुन्दर एवं

शोभायुक्त उद्धरण निर्माण करना चाहिए ।।५१ ॥

विशेष–सूरि दीक्षा महोत्सव स्थान पर पंच वर्ण- श्वेत, पीत, हरा, ताम्रवर्ण एवं काला इस प्रकार पंचवर्णों के चूर्ण से नीचे लिखित मण्डल का निर्माण करें।

यथा–

गणधर चक्र का समुद्धार

" अथ गणधर वलयमनुशिष्यते। पूर्वं षट्कोण चक्रे क्ष्माबीजाक्षरं लिखेत् । तदुपरि अर्हं इति न्यसेत् तस्य दक्षिणतो वामतश्च ह्रीं विन्यसेत् पीठादधः श्री न्यसेत्। ततःओं अ सि आ उ सा स्वाहेत्यनेन श्री-कारस्य दक्षिणतः प्रभुत्युत्तरतो भावत्प्रादक्षिण्येन वेष्टयेत्। ततः कोणेषु षट्स्वपि मध्ये अप्रतिचक्रे फडिति सव्येन स्थापयेत॥ तथा कर्णांतरालेषु विचक्राय स्वाहेति षड्बीजानि झ्रौंकारोत्तराणि अपसेव्ये विन्यसेत्। तद्बहिर्वलय कृत्वाष्टसु पत्रेषु णमो जिणाणं, णमो ओहि जिणाणं, णमो कुट्ठबुद्धीणां णमो बीज बुद्धीणं, णमो पदाणुसारीणं- इत्यष्टौ पदानि क्रमेत् लिखेत् । ततस्-तद्बहिस्तद्वत् षोडशपत्रेषु णमो संभिण्ण सोदाराणं, णमो पत्तेयबुद्धाणं, णमो सयं बुद्धाणं, णमो बोहिय-बुद्धाणं, णमो उजुमदीणं णमो विउलमदीणं, णमो दस पुव्वीणं, णमो अट्ठंग-महा णिमित्त कुसलाणां, णमो विउव्वण-इड्ढिपत्ताणं, णमो विज्जाहराणं, णमो चारणाणं, णमो समणाणं, णमो आगास गामीणं, णमो आसि-विसाणं, णमो दिट्ठिविसाणं-इति षोडश पदानि विलिखेत्। ततस्तद्बहिस्तद्वच्-चतुर्विंशति पत्रेषु णमो घोर-गुण-परक्कमाणं, णमो घोर-गुण बंभयारीणं, णमो आमोसहि पत्ताणं, णमो खेल्लोसहि -पत्ताणं, णमो जल्लोसहि पत्ताणं, णमो विडोसहि-पत्ताणं, णमो सव्वोसहि-पत्ताणं, णमो मण बलीणं, णमो वचि बलीणं, णमो काय बलीणं, णमो खीर सवीणं, णमो सप्पिसवीणं, णमो महुर-सवीणं, णमो अमिय-सवीणं, णमो अक्खिणमहाणसाणं, णमो वड्ढमाणाणं, णमो लोए सव्व सिद्धाय दणाणं, णमो भयवदो महदि महावीर वड्ढमाण बुद्धि रिसीणं। चतुर्विंशति पदान्यलिख्य ह्रींकार-मात्रया त्रिगुणं वेष्टयित्वा क्रौंकारेण निरुद्धय बहिःपृथ्वी मण्डलं ह्रीं श्री अर्हं अ सि उ सा अप्रतिचक्रे फट्

विचक्राय इत्रौ-इत्रौ स्वाहा।''

मण्डप की सुन्दरता:

विचित्र वसनैः सर्व मंडपानि प्रसाधयेत्

ध्वजैश्च सल्लकीरभास्त भैरपि दलस्त्रजा ॥२७॥

चतुद्वरोर्ध्व कोणस्थ शुभ्र कुम्भाष्टकेन च।

तोरणै भूरि सौंदर्य नानारत्नांशु कांचितैः ॥२८॥

प्रलम्बन मुक्तालंबूष हार स्त्रक्तारकोत्करैः॥

भूरिपुष्पोपहारेण चारु चन्दन चर्चया ॥२९॥

मुक्ता स्वस्तिक विन्यासै रंगावलि विशेष कै ॥३०॥ प्र. ति.

अर्थात् सम्पूर्ण मण्डल उत्तम प्रकार के चित्र-विचित्र दिव्य वस्त्रों से सुशोभित करे। पताकाएं स्थापित करें सल्लकी वृक्ष तथा केला के वृक्ष स्तम्भ चारों कोण में खड़ा करें। चारों दिशाओं में माला लटकावें। मण्डप के चारों दरवाजों के कोण में दो-दो कुंभ स्थापन करें, तोरण बांधे, मोती के हार लटकावें, पुष्प फैलावें, स्वस्तिक बनावें एवं अनेक रंग के चित्र बनावें। कलश, दर्पण, भृंगार, दर्भमाला, धूपघट एवं अन्य मंगल पदार्थों से मंडप को सुशोभित करें ॥५१॥

दुईजम्मि संति मण्डल महिमा काऊण पुप्फ धूवेहिं।

णाणाविह भिक्खेहि य करिज्ज परितोसिय चक्कं ॥५२॥

अन्वयार्थ-(दुइजम्मि) जिसमें दो (मण्डल) मण्डल (पुप्फ धूवेहिं) पुष्प और धूप के द्वारा (महिमा काऊण) महिमा/प्रभावना/साज-सज्जा युक्त करके (णाणाविह) अनेक प्रकार के (भिक्खेहिय) भक्ष्य पदार्थों से (परितोसिय) दान से सन्तुष्ट करते हुए (चक्कं) चक्र/गणधर चक्र की (करिज्ज) पूजा करे ॥५२॥

अर्थ-जिसमें दोनो मंडल (मंडप) साज-सज्जा को पुष्प और धूप से उत्तम गंध युक्त करके अनेक प्रकार के भक्ष्य पदार्थों से चतुर्विध संघ को एच्छिक दान आदि से संतोषित करना चाहिए और अनेक विध वैभव प्रभावना पूर्वक चक्र की पूजा करें ॥५२॥

विशेष-यहां आचार्य प्रवर ने दीक्षार्थी के लिए निर्देश किया है कि वह इहलोक एवं परलोक में सुख तथा शान्ति को प्रदान करने वाले गणधर वलय चक्र की पूजा एच्छिक दान देते हुए महान महिमा-वैभव के साथ करें॥ चुतर्विध संघ को भक्ष्य पदार्थों का दान करता हुआ संतोषित करें।

उक्तं च

इत्थं गणाधिक चक्र महाभिषेकं

पूजा पुरा नियम वानिति यः करोति।

सत्स्वर्ग सौख्यमनुभूय ततोऽवतीर्य

प्राप्नोत्यनन्त सुखमक्षय मोक्ष लक्ष्म्याः ॥ग. व. पू.॥

अर्थ–इस गणाधिप चक्र-मंडल को जो नियम पूर्वक महा अभिषेक तथा पूजा करता है वह स्वर्ग सुख का अनुभव करके वहां से अवतीर्ण होकर यहां (कर्म भूमि में, अनन्त सुख स्वरूप मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करता है।८२॥

गणधर मण्डलं भवतु, भक्ति मंता भवतां च सिद्धिदम्॥८०॥ ग.व.पू.

अर्थात् गणधर मण्डल विधान शिवपद का दाता, दुरितों का नाशक, यश एवं सम्पदा को देने वाला सिद्धि को देने वाला है। इस प्रकार सम्पूर्ण वैभव सहित गणधर चक्र की पूजा करें। ऐसा आचार्य प्रवर का निर्देश है।८२॥

गणधर वलय पूजा दिवस प्रमाणः

एवं बारस दिवसा उक्कस्से मज्झिमा हु छद्दिवसा।

सव्वजहण्णेण एओ, मज्झिमदो तिण्णि वासरया॥८३॥

अन्वयार्थ- (एवं) इस प्रकार (बारस दिवसा उक्कस्से) उत्कृष्टता से बारह दिन (मज्झिमा) मध्यम से (छद्दिवसा) छ/६ दिन (मज्झिमा) मध्यवर्ती होता है। (हु) वाक्यालंकार (सव्व जहण्णेण) सर्व जघन्यता से (एओ) यह (तिण्णि वासरया) दिन तीन दिन पर्यंत होता है ॥८३॥

अर्थ–इस प्रकार यह सब पूजा विधान महोत्सव उत्कृष्ट बारह (१२) दिन, मध्यम छ (६) दिन का मध्यवर्ती तथा सर्व जघन्यता से तीन दिन पर्यंत होता है।८३॥

सूत्रवाचनदि कर्त्तव्यः

पडिदिवसं गुण जुत्तो, जोई जणो कुणदि तित्थ सुदपढणे।

अहिसेग जोग्ग किरिया, अहवा परिसायणा किरिया॥८४॥

अन्वयार्थ–१२, ६ या ३ दिन पर्यंत (पडिदिवसं) प्रतिदिन (गुणजुत्तो जोइ जणो) गुण सहित योगी जन (तित्थ सुद पढणे) तीर्थंकर कथित गणधर गुन्थित ग्रन्थ/श्रुत का पठन करें, या (अहसेग जोग्गा किरिया) अभिषेक योग्य क्रिया करें (अहवा) अथवा (परिसायणा) प्रति वाचना/अध्ययन (किरिया) क्रिया (कुणदि)करें॥८४॥

अर्थ-प्रतिदिन गुणयुक्त-गुणवान, ज्ञानवान योगी जन गणधर गुंथित श्रुत का पठन करें पद प्रतिष्ठापना में योग्य शुद्धि करण मंगल स्नान, जिनाभिषेक पूजा आदि योग्य क्रिया करें अथवा गुरु के समीप पुनःपुनः प्रतिवाचना -अध्ययन क्रिया करें ॥५४॥

विशेष-यहां आचार्य निर्देश करते हैं कि महापुण्यकारक महोत्सव प्रतिदिन तीर्थंकर परम देव के द्वारा गुंथित-सूत्रबद्ध ग्रन्थ का पठन करें तथा सूरि पद प्रतिष्ठापना में करणीय प्रतिदिन मंगल क्रिया जिन प्रतिबिम्ब का अभिषेक, आह्वान आदि क्रिया करें। गुरु के समीप बार-बार ग्रन्थों की पांच प्रकार की (वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा आम्नाय, धर्मोपदेश वाचना करें॥

आचारांग पूजोपदेशः

जत्थ दिणे पयठवणं, तत्थ रहस्से ससंध संजुत्तं।

आयारंगं पुज्जि वि, सारस्स दसं जुयं पूणं ॥५५॥

अन्वयार्थ-(जत्थदिणे) जिस दिन जहां (पयठवणं) सूरि पद स्थापना करना है (तत्थ रहस्से) वहां रहस्य मय स्थान में (दसं जुयं) दस युग/४० हाथ प्रमाण शुद्ध स्थान पर (ससंघ संजुत्तं) अपने चतुर्विध संघ सहित (आयारंगं) आचारांग के (सारस्स) सार को (पुज्जिवि) पूजा करें ॥५५॥

अर्थ-जिस दिन जिस स्थान पर सूरि पद स्थापना करना है उस दिन वहां दस युग-४० हाथ प्रमाण शुद्ध भूमि पर अपने सम्पूर्ण संघ सहित आचार अंग की पूजा करें॥

विशेष-मुनि पद स्थापना दिवस पर ४० हाथ (६० फुट) शुद्ध भूमि -मल-मूत्र, सूक्ष्म कीट आदि, सूक्ष्म जीव के रहने के स्थान से रहित (बांबी छिद्र आदि से रहित) शुद्ध भूमि पर अपने यति, ऋषि, मुनि, अनगार अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका इस प्रकार चतुर्विध संघ सहित आचारांग की पूजा, भक्ति आराधना आदि करें॥५५॥

पयठवणं जोग किरिया, कम्मं किच्चा सवग्गं संजुत्तं।

आयारंगं जंतं पुणरवि पुज्जिज्ज भत्तिए ॥५६॥

अन्वयार्थ-(पयठवणं) पद स्थान के (जोग किरिया) योग्य क्रिया (कम्मं) कर्म को (किच्च) करके (पुणो सवग्गं) पुनः अपने बंधु वर्ग/सर्व संघ (संजुत्तं) सहित (आयारंगं जंतं) आचारांग यंत्र गणधर यंत्र की (पुज्जिज्ज) पूजा आराधना (भत्तिए) भक्ति पूर्वक करें॥५६॥

अर्थ-सूरिपद स्थापना योग्य (मंगल पूजादि) क्रिया कर्म करके पुनः अपने संघ सहित आचारांग यन्त्र (गणधर वलय यन्त्र) की पूजाराधना भक्ति सहित करना चाहिए॥५६॥

जइ पर गणहर सीसो, पयठवणे संथुदो जह होदि।
तो तस्स णामकरणं, सलोय आलोयणा सहियं ॥५७॥

अन्वयार्थ-(जइ) यदि (पर गणहर सीसो) पर गणधर अर्थात् अन्य आचार्य का शिष्य (जइ) मुनि (पयठवणे) सूरि पर स्थापना में (संथुदो) संस्तुत/भजनीय (होदि) होता है (तो तस्स) तो वह उसका (सलोय) । संघ सम्मुख अथवा प्रशंसा पूर्वक (आलोयणा) आलोचना सहित (णामकरणं) नामकरण करना चाहिए।॥५७॥

अर्थ-यदि पर गणधर का कोई शिष्य है। वह यदि आचार्य पद प्रतिष्ठापन में संस्तुत अर्थात् प्रार्थनीय होता है तो उसका नामकरण संघ सम्मुख लोच तथा आलोचना सहित करना चाहिए॥५७॥

विशेष-यहाँ आचार्य श्रेष्ठ निर्देश करते हैं कि यदि कोई पर गणधर अन्य आचार्य का शिष्य सूरि पदस्थापना करने के लए यदि संस्तुत/ चुना गया हो तो सम्पूर्ण संघ साक्षी पूर्वक केशलोंच और आलोचना सहित नामकरण संस्कार करना चाहिए॥

अब यहाँ प्रकारान्तर से पर गणस्थ आगतयति के सम्बन्ध में विशेष कृत समाचार कहते है।

आगंतुक णामकुलं गुरुदिक्खामाण वरिसगसं च।
आगमण दिसा सिक्खा पडिकमणादीय गुरु पुच्छा॥१६६॥

सा. अ. मू. चा.

अर्थात् गुरु आगन्तुक परगणस्थ शिष्य नाम, कुल, गुरु, दीक्षा के दिन, वर्षावास, आने की दिशा, शिक्षा, प्रतिक्रमण आदि के विषय में प्रश्न करते हैं।

इस प्रकार संघ के आचार्य शिष्य के रत्नत्रय सम्बन्धित प्रश्नादि के द्वारा समालोचना करते हुए आगन्तुक परगणस्थ शिष्य का नामकरण एवं स्वीकार करना चाहिए। ऐसा जिनोपदेश है।॥५७॥

बारस बारस जावहु, दीण जणाणं च दिज्जए दाणं।
गाइय मंगल गीयं, जुवई जणो भत्ति राएण॥५८॥

अन्वयार्थ-(बारस-बारस) बारह-बारह (जावहु) दिन पर्यंत (दीण जणाणं) दीन-हीन जनों को (च) भी (दाणं दिज्जए) दान देवे तथा (जुवई जणो) युवति जनों द्वारा (भत्ति राएण) भक्ति रागपूर्वक (मंगलगीयं) मंगल गीत (गाइय) मंगलाचरण गान करना चाहिए॥५८॥

अर्थ–इस प्रकार बारह–बारह दिन पर्यंत दीन–हीन जनों को भी दान देवें तथा युवतिजनों द्वारा भी भक्ति मार्ग पूर्वक मंगल गान किया जाना चाहिए अर्थात् भक्ति मंगलाचरण गान पूर्वक करना चाहिए।।५८।।

जेण वयणेण संघो, समच्छरो होइ तं पुणो वयणं।

वारस दिवसं जावदु वज्जियव्वं अप्पमत्तेण।।५९।।

अन्वयार्थ–(जेण वयणेण) जिस वचन से (संघो) संघ (समच्छरो होइ) मात्सर्य/कोप –द्वेष युक्त होता है (तं वयणं) ऐसे उस वचन को (अप्पमत्तेण) प्रमाद छोड़कर (वज्जियव्वं) वर्जित/परित्याग करना चाहिए। (वारस दिवसं) बारह दिन (जावदु) पर्यंत (पुणो) पुनः इष्ट स्मरण करना चाहिए।।५९।।

अर्थ–जिस वचन के द्वारा संघ मात्सर्य –कोप एवं द्वेष युक्त होता है ऐसे वचन को तथा निन्दायुक्त वचन को अप्रमाद पूर्वक परित्याग–परिहार करना चाहिए तथा बारह दिन मन ही मन बार बार इष्ट देवता–अरहंत सिद्ध आदि का स्मरण उच्चारण करना चाहिए।।५९।।

इन्द्र प्रतिष्ठाः

वारस इंदा रम्मा, तावदिया चेव तेसिमवलाओ।

ण्हाणादि सुद्ध देहास्ते, वर मउड कद सोहा।।६०।।

पुंडिक्खु दंड हत्था, इंदा इंदायणीओ सिक्खलसा।

आयरियस्स पुरत्था, पढंति णच्चंति गायंति।।६१।।

अन्वयार्थ–(वारस इंद रम्मा) रमणीय/मनोहर बारह इन्द्र (चेव) और उतनी ही (अवलाओ) इन्द्राणियां (तेसि) उनमें (ण्हाणादि देहास्ते) वे स्नानादि से अपने शरीर को (सुद्ध) शुद्ध करें और (वर) उत्तम (मउड) शिरोभूषण मुकुट (कद) के द्वारा (सोहा) सुशोभत, (पुंडिक्खु) धवल तिलक, (दंडहत्था) हाथ में दण्ड लिए हुए (इंदा इंदायणीओ) इन्द्र और इन्द्राणियां (सिक्खलसा) अभ्यास करते हुए (आयरियस्स पुरत्था) आचार्य के अग्रवर्ती/सम्मुख (पढंति) स्तव पढ़ते हैं (णच्चंति) नृत्य करते हैं (और) (गायंति) मंगल गान करते हैं।।६०/६१

अर्थ–रमणीक–मनोरम बारह इन्द्र एवं उतनी ही–बारह इन्द्राणियां स्नान उबटन लेपन आदि से देह–शरीर को शुद्ध करें तथा अभीष्ट मस्तक का आभूषण किरीट (मुकुट), धवल तिलक, हाथ मे दण्ड–हाथ में रजत–स्वर्ण तथा रत्नमय छड़ी अथवा हाथ में चंवर लिए हुए शोभा को प्राप्त दीप्तिमान वे इन्द्र और इन्द्राणियां अभ्यास करते हुए प्रथमावस्था में जिनोपदेश के स्थान पर आचार्य के सामने स्तवन करते हैं, गुणानुवाद

करते हैं, नृत्य करते हैं एवं मंगल गान करते हैं ॥६०/६१

विशेष-बारह इन्द्र और बारह इन्द्राणियां प्रतिष्ठा विधि के अनुसार स्नान करके अपने सर्वांग पर चन्दन का लेप करें, माला पहनें, तिलक लगावें, वस्त्र धारण करें, मुकुट धारण करें, यज्ञोपवीत स्वीकार करें, बाजुबंध, अंगूठी तथा कड़े पहनें, हाथ में दण्ड धारण करें। करधनी तथा चरण मुद्रिका पहने इत्यादि वस्त्राभरणों को धारण करके "**एवमानंदतः स्तुत्वा शक्रः पूर्ववदादशत् कृत्वास्फुटं नटेत्** अर्थात् वे इन्द्र आनन्द से भक्ति" पूर्वक स्तुति स्तोत्र पाठ करते हुए अच्छी तरह ताण्डव नृत्य करें ये [illegible] क्रियाएं इन्द्र इन्द्राणीयां आचार्य के अग्रवर्ती स्थित होकर करते हैं ॥६०/६१॥

अह आविऊण सव्वे, मंडलमभिवंदिऊण दक्खिणदा।
हिंडिवि मंगल दव्वं, फंसित्ता सत्त धण्णाणं ॥६२॥
जविऊण सत्तवारं, पणवाइम अरिहंत बीय वयं।
मय-णक्खर सिरिवण्णं, होमंतं सुद्ध बुद्धीए ॥६३॥

अन्वयार्थ-(अह) इसके बाद (सव्वे) सभी इन्द्र-इन्द्राणी (आविऊण) आकर (मंडलमभिवंदिऊण) मंडल/गणधर वलय मंडल व संघ को सम्मुख होकर नमस्कार/वन्दना करके (मंगल दव्वं) मंगल द्रव्य को (फंसित्ता) स्पर्श करके (दक्खिणदा हिंडिवि) दक्षिण की तरफ से प्रदक्षिणा देवें पश्चात् (सत्त् धण्णाणं) सप्त धान्यों को (सत्तवारं) सात बार (पणवाइम) पणवबीज (अरिहंत बीज) अरिहंत बीज को (मय-णक्खर) मदन अक्षर (सिरिवण्णं) श्री वर्ण और (होमंतं) होमन्त्र 'स्वाहा' को (सुद्ध बुद्धीए) शुद्धबुद्धि से (जविऊण) जाप करके (बीजवयं) बीज को वपन करें ॥६२/६३॥

अर्थ-अथानन्तर सभी इन्द्र-इन्द्राणी आकर संघ एवं गणधर वलय मंडल के सम्मुख नमस्कार करके, दक्षिण की तरफ से प्रदक्षिणा देते हुए मंगल द्रव्य को स्पर्श करके सप्त धान्यों को पणव बीज "ओं" अरिहंत बीज द्वय "अर्हं" मदन अक्षर "क्लीं" श्री वर्ण "श्री" होमन्त्र "स्वाहा" (ओं अर्हं क्लीं श्री स्वाहा) इस मंत्र का सात बार शुद्ध चित्त से जापकर बीज वपन करना चाहिए॥

तदुक्तं च

तस्मिन्नहनि सायान्हे त्वंकुरार्पण मंडपे।
मृत्तिका संग्रहो भूत्वा बीजारोपो यथाविधि। प्र. ति.

अर्थात् तीर्थ विधि के दिन मण्डप में आनन्द पूर्वक मृत्तिका संग्रह करके यथा विधि बीज रोपण करें ॥६२-६३॥

सप्त धान्य-गेहूं, चना, उड़द, चावल, मूंग, जौ, तिल।

कलसाइ चारि रुप्पय, हेममय वण्णाई तोय भरियाइं।

दिव्वोसहि जुत्ताइं, पयण्हवणे होंति तत्थ जोग्गाइं ॥६४॥

अन्वयार्थ-(चारि रुप्पय हेममय) चार चांदी और चार सोने/स्वर्ण के (कलसाइ) कलश (दिव्वोसहि जुत्ताइं) दिव्य औषधि से युक्त (तोय) जल से (भरियाइं) भरे हुए कलश (पय ण्हवणे) सूरि चरणों के अभिषेक के (जोग्गाइं) योग्य (होंति) होते हैं। अर्थात् अभिषेक करना चाहिए॥६४॥

अर्थ-चार कलश चांदी के और चार कलश स्वर्णमय निर्मित दिव्य औषधि सहित जल से पूर्ण भरे हुए कलश से आचार्य के चरणों का न्हवण-अभिषेक करने योग्य माने गये हैं अर्थात् आचार्य चरणों का अभिषेक करना चाहिए॥६४॥

दिव्य औषधि--सहदेवी, बला, सिंही, शतमूली, शतावरी, कुमारी, व्याघ्री (एरंड), अमृतवल्ली।

ध्वजा प्रमाण

पुरिस पमाणं रम्मं, तद्धयं मज्झिमं परं होइ।

जण्हु पमाणं अहरं, इणरिउ चत्तारि सीहट्ठं ॥६५॥

अन्वयार्थ-(पुरिसं पमाणं) पुरुष के प्रमाण वाली (तत्) वह (धयं) ध्वजा (रम्मं) रम्य/शुभ है। (जण्हु पमाणं) घुटने के प्रमाण वाली (ध्वजा) (मज्झिमं) मध्यम होती है तथा (सीहट्ठं इणरिउ) सिंह चिन्ह से चिन्हित सरल (चत्तारि) चार (अहरं) अन्य (ध्वजा) (परं) उत्तम होती है॥६५॥

अर्थ-पुरुष के प्रमाण वाली ध्वजा श्रेष्ठ रमणीय-मनोरम होती है और घुटने के प्रमाण वाली सूर्य चिन्ह से चिन्हित अन्य दूसरी चार ध्वजाएं शीघ्र ही उद्देश्य-लक्ष्य की पूर्ति अर्थात् मुक्ति रानी को शीघ्र ही वरण करने वाली होती है॥६५॥

सिंहासन प्रकरण

सीहासणं पसत्थं भम्माणर सुरुप्प पाहणयं॥

आइरिय ठवणजोगं, विसेसदो भूसियं सुद्धं ॥६६॥

अन्वयार्थ-(आइरिय ठवणजोगं) आचार्य के बैठने योग्य (सीहासणं पसत्थं) प्रशस्त/प्रशंसनीय सिंहासन (भम्माणर) काष्ट (सुरुप्प) सोना, चांदी तथा (पाहणयं) पाषाण का (विसेसदो) विशेष रूप से (भूसियं) भूषित सुशोभित तथा (सुद्धं) शुद्ध होना चाहिए॥६६॥

अर्थ–आचार्य के बैठने-विराजने योग्य स्थान पर प्रसिद्ध प्रशंसनीय उत्कृष्ट शुद्ध काष्ठ के सिंहासन को मनुष्यों की जय-जयकार ध्वनि करते हुए स्थापन करना चाहिए॥६६॥

भावार्थ–बैठने योग्य पीठ- जो खटमल आदि क्षुद्र प्राणियों से रहित हो, चर-चर शब्द न करता हो, जिसमें छेद न हो, जिसका स्पर्श सुखोत्पादक हो, जिसमें कील-कांटा आदि न हो, जो हिलता-डुलता न हो, निश्चल हो ऐसे काष्ठ आदि पीठ का आश्रय करें। यथा:

विजन्त्व शब्दमच्छिद्रं सुख स्पर्शमकीलरुम्।

स्थेयस्तार्णद्यधिष्ठेयं पीठं विनय वर्द्धनम् ॥५॥ क्रि. क.

अर्थात् इस प्रकार कि योग्य काष्ठ के शुद्ध सिंहासन-पीठ को आचार्य जय-जयकार का उच्चारण करते हुए सुनश्चित स्थान पर उस पीठ को स्थापन करें अर्थात् रखें। वह पीठ विशेष कर भूषित और शुद्ध होना चाहिए॥६६॥

सूरि पद प्रतिष्ठा के पूर्व

तस्सतले वर पउमं अट्ठदलं सालितंदुलो किण्णं।

मज्झे मायापत्ते, ठल पिंडं चारु सव्वत्थ॥६७॥

अन्वयार्थ–(तस्स तले) उस सिंहासन के नीचे भाग पर (अट्ठ दलं) आठ दल वाला (वर) उत्तम (पउमं) कमल को (सालि तंदुलो) शालि तन्दुल पर (किण्णं) शोभायमान/उत्कीर्ण करना और (मज्झे) उसके बीच में (माया) माया बीज ह्रीं (पत्ते) पत्र में (चारु सव्वत्थ) चारों और सर्वत्र (ठलपिंडं) किरणें प्रसारित करें॥६७॥

अर्थ–उस सिंहासन के नीचे के भाग पर शालि धान्य के चांवल को फैलाते हुए अष्ट दल वाले कमल को उत्कीर्ण करें, उसके मध्य भाग पर माया बीज ''ह्रीं'' एवं पत्र ''प्रसारित करना'' अर्थात् उसके मध्य भाग पर ह्रीं बीजाक्षर बनाकर उसके चारों ओर सर्वत्र किरणें प्रसारित करें॥६७॥

पच्छा पुज्जिविजंतं, तिपयाहि ण देवि सिंह पीठस्स।

कुंभी पाणी सगणं, परिपुच्छिय विउसउ तं पीठे॥६८॥

अन्वयार्थ–(पच्छा) उसके बाद (पुज्जिविजंतं) यंत्र की पूजा करके (देवि) दिव्य (सिंह पीठस्स) सिंहपीठ/सिंहासन की (तिपयाहिण) तीन प्रदक्षिणा (दक्षिण से) करके (कुंभी पाणी) जल कुम्भ लेकर (इन्द्र) (सगणं) अपने गण संघ को (परिपुच्छिय) पूछकर (तं पीठे) उस सिंहासन पर (आचार्य को) (विउसउ) विराजमान करें॥६८॥

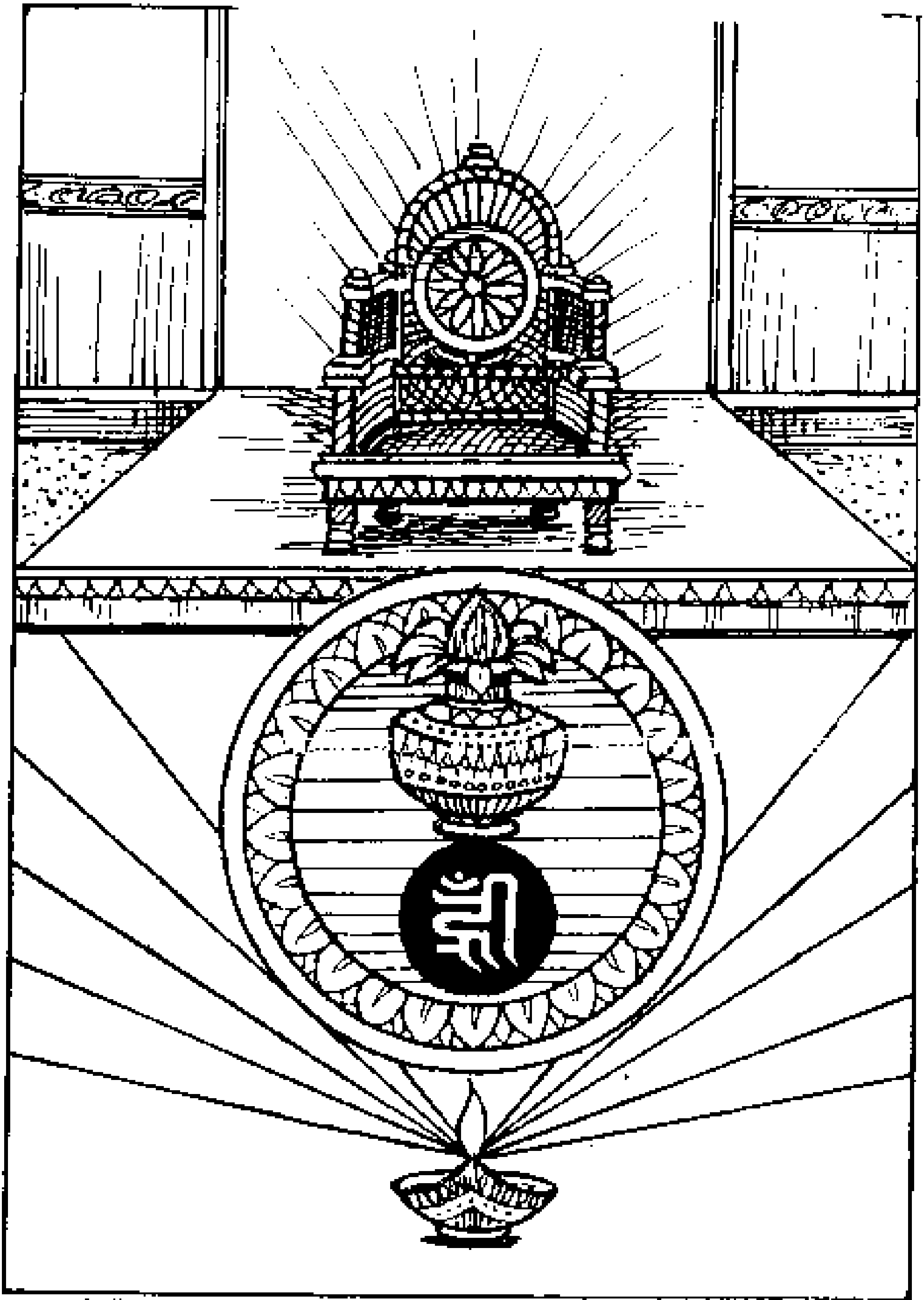

[redacted] सूरि पद प्रतिष्ठा के पूर्व का दृश्य [redacted]

अर्थ–इसके पश्चात् उपर्युक्त यंत्र की पूजा करके तथा दिव्य सिंहपीठ/सिंहासन की तीन प्रदक्षिणा देकर एवं पूजा करके हाथ में कुम्भ लेकर इन्द्र अपने गण को पूछ कर आचार्य को उस पीठ पर बैठावे करें ॥६८॥

तत्तो पुव्वगयाणं, जईण णामग्गहं गुइं कुणादि।
इंदो सिद्धंतादिय, सत्थं अग्गे समुद्धरदि ॥६९॥

अन्वयार्थ–(तत्तो) उसके बाद वह (इंदो) इन्द्र (पुव्वगयाणं) पूर्वगत (जईणं) यतियों के (णामग्गहं) नामाग्रह पूर्वक (गुइं कुणादि) निर्दोष उच्चारण करे तथा (सिद्धंतादिय)सिद्धान्त आदि (सत्थं) शास्त्रों को (अग्गे) आगे (समुद्धरदि) भली प्रकार स्थापित करें ॥६९॥

अर्थ–इसके पश्चात् वह इन्द्र आद्य पूर्वगत प्राचीन यतियों के नामाग्रह/पूर्वाचार्यों की पट्टावलि का उच्चारण करके स्तुति पूर्वक पढ़े और इन्द्र प्रतिष्ठा, सिद्धान्त आदि शास्त्रों को उद्धार–उच्च स्थान/श्रुत पीठ पर स्थापना करें ॥६९॥

तो वंदिऊण संघो वित्थर किरियाए चारु भावेण।
आघोसदि एस गुरु, जिणोव्व हम्माण सामीय ॥७०॥

अन्वयार्थ–(तो) उसके बाद (चारु भावेण) सुन्दर/श्रेष्ठ पूज्य भावों से (वित्थर किरियाए)सभी विस्तार क्रिया के हो जाने पर (संघो) श्रुत व संघ की (वंदिऊण) वन्दना करके (संघो) संघ (आघोसदि) घोषणा करता है कि (एस गुरु) यह होने वाला गुरु (जिणोव्व) जिनेन्द्र की तरह (हम्माण) हमारे (सामीय) स्वामी हैं ॥७०॥

अर्थ–उसके बाद श्रेष्ठ–पूज्यपने के भावों के द्वारा विस्तार क्रिया हो जाने पर श्रुत और सूरि की वन्दना करके संघ घोषणा करता है कि ये गुरु राग–द्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओं को जीतने वाले जिन के समान हमारे स्वामी हैं ॥७०॥

विशेषार्थ–यहां आचार्य प्रवर ने संयम प्रतिष्ठान क्रिया करने के पश्चात् संघ की प्रतिक्रिया का वर्णन करते हुए कहा है कि उत्कृष्ट भावों से सम्पूर्ण सविस्तार क्रिया के हो जाने पर द्वादशांग आचारांग की वन्दना करके तथा आचार्य की वन्दना करके संघ –चतुर्विध संघ घोषणा करता है कि जिस प्रकार जिनेन्द्र राग–द्वेष मोह आदि विकार भावों से रहित होते हैं तथा अन्तरंग व बहिरंग शत्रुओं को जीतने वाले होते हैं सरल सहज स्वभावी परम स्व समय में स्थित होते हैं। ठीक उसी प्रकार ये गुरु आचार्य भी जिन की तरह हमारे स्वामी (नायक) हैं ॥७०॥

जं कारदि एसगुरु धम्मत्थं तं ण जो दु मण्णेदि।
सो सवणो अज्जाओ, सावयवो संघ बाहिरओ ॥७१॥

अन्वयार्थ-(जं) क्योंकि (एस गुरु) हमारे गुरु (धम्मत्थं) धर्म के लिए (कारदि) क्रिया करते हैं (तं) तुम (जो दु) उसे जो (ण मण्णेदि) नहीं मानते हैं (सो) वह (समणो) श्रमण (अज्जाओ) आर्यिका या (सावयवो) श्रावक हो (संघ बाहिरओ) संघ से बाहिर है ॥७१॥

अर्थ-ऐसे सर्वमान्य गुरु धर्म की सिद्धि के लिए जो भी शुद्ध भिक्षा की खोज, निर्दोष भिक्षा का ग्रहण करना इत्यादि क्रिया करते एवं करवाते हैं सर्वांश सहित उनकी आज्ञा को जो श्रमण-यति अर्जिका एवं श्रावक श्राविका गण उसे नहीं मानता है वह संघ से बाहर-बाह्य है ॥७१॥

विशेष-उपर्युक्त विधि पूर्वक आचार्य पद प्रतिष्ठा हो जाने पर सर्वमान्य ऐसे आचार्य परम गुरु जिनको संघ ने सिरमोर धारण किया था ऐसे गुरु जो भी निर्दोष क्रिया-पंचाचार, निर्दोष भिक्षा, निरतिचार व्रत का पालन, दोषों की शुद्धि आदि क्रिया स्वयं करता और करवाता है उसे जो संघ के विभाग संघांश मुनि, अर्जिका, श्रावक एवं श्राविका मान्य नहीं करता है वह श्रमण संघ से बहिर्भूत बाह्य है ॥७१॥

संघ सत्कार

एवं संघोसित्ता, मुत्तामालादि दिव्व वत्थेहिं।
पोत्थय पूयं किच्चा, तदो परं पायपूजा य॥७२॥

अन्वयार्थ-(एवं) इस प्रकार (संघोसित्ता) संघ के आश्रित (योग्य)(मुत्तामालादि) मुक्ता/ मोती की माला स्वर्णादि पुष्प आदि (य) तथा (दिव्व वत्थेहिं) दिव्य वस्त्रों के द्वारा (पोत्थय) शास्त्र की (पूयं किच्चा) पूजा करें (तदो) उसके बाद (परं) मुख्य गुरु के /आचार्य के (पायपूजा) चरणों को पूजा करें ॥७२॥

अर्थ-इस प्रकार संघ के आश्रित जनों की मोती की माला आदि दिव्य वस्त्रों से शास्त्रजी की पूजा करके तत्पश्चात् उत्कृष्ट मुख्य गुरु यानि आचार्य परमेष्ठी के चरणों की पूजा करें।

भावार्थ-यहां चतुर्विध संघ एवं आश्रित जनों के सत्कार करने का निर्देश दिया है कि संयम एवं आचार्य प्रतिष्ठापन क्रिया करने के पश्चात् धर्मसाधन के उपकरण भूत मोती, मूंगा की माला उत्कृष्ट श्रावक श्राविका एवं आर्यिका संघस्थ ब्रह्मचारी आदि की वस्त्र प्रदान के द्वारा और शास्त्र (जिनवाणी) की पूजा-सत्कार करके संघ के नायक उत्कृष्ट परम गुरु के चरण कमलों की पूजा करें। इस प्रकार संघ का सत्कार पूजादि करने की विधि विशेष का वर्णन किया गया है ॥७२॥

शान्ति विसर्जन

तत्तो विदिए दिवसे, महामहं संति वायणा जुत्तं।
भूयबलिं गहखंति, करिज्जए संघ मोयत्थं॥७३॥

अन्वयार्थ–(तत्तो) उसके बाद (विदिए दिवसे) दूसरे दिन (संघ मोयत्थं) संघ की खुशहाली/कुशलता के लिए, (भूयबलिं गहखंति) भूत आदि के प्रकोप तथा ग्रहों की शान्ति के लिए (महामहं) महापूजा (संति वायणा) शान्ति वाचना (करिज्जए) करें ॥७३॥

अर्थ–उसके बाद दूसरे दिन संघ की खुशहाली के लिए भूत प्रेत आदि के प्रकोप तथा ग्रहों की शान्ति के लिए महा-महोत्सव के अन्तर्गत पूजा शान्ति पाठ एवं विसर्जन करें ॥७३॥

विशेष–आचार्य पद प्रतिष्ठापन अथवा संयम-सूरि पद प्रतिष्ठान क्रिया के होने के पश्चात् संघ के रत्नत्रय स्वास्थ्यादि की सकुशल हेतु, भूत-प्रेत आदि के बल-प्रकोप को शान्त करने के लए तथा सूर्यचन्द्र आदि नवग्रहों के प्रकोप जनित प्रतिकूलता को अनुकूल बनाने के लिए एवं महामह-जिसको महापूजा कहा जाता है। शान्ति विसर्जन करना चाहिए। पंडित प्रवर आशाधरजी ने सागार धर्मामृत में महामह। का स्वरूप इस प्रकार कहा है-

भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिन पूजा विधीयते।
तदाख्या:सर्वतोभद्र चतुर्मुख-महामहा: ॥२७१/२॥

अर्थात् महामण्डलेश्वर राजाओं के द्वारा भक्ति पूर्वक जो जिनपूजा की जाती है उसके नाम सर्वतोभद्र चतुर्मुख एवं महामह है। जिनको सामन्तादि के द्वारा मुकुट बांधे जाते हैं उन्हे मुकुटबद्ध या मण्डलेश्वर कहते हैं। वे जब भक्तिवश जिनदेव की पूजन करते हैं तो उस पूजा को सर्वतोभद्र आदि कहते हैं यह पूजा सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली होती है इसलिए उसे सर्वतोभद्र कहते हैं। चतुर्मुख मण्डप में की जाती है इसीलिए चतुर्मुख कहते हैं और अष्टाह्निक की अपेक्षा महान होने से महामह कहते हैं। सर्वत्र निर्भय होकर यह पूजाएं की जाती है किन्तु किसी भी भय के वशीभूत होकर नहीं। इसीलिए भक्ति वश कहा गया है। यह पूजा कल्पवृक्ष की पूजा के तुल्य होती है क्योंकि कल्पवृक्ष पूजा में पूजक चक्रवर्ती अपने राज्य भर में याचक की इच्छा के अनुरूप दान के द्वारा उनके मनोरथों को पूर्ण करते हुए पूजा करता है किन्तु महामह पूजा में मण्डलेश्वर मात्र अपने जनपद में तदेच्छा प्रमाण दान के द्वारा याचक जनों को सन्तुष्ट करते हुए पूजा करता है।

उपर्युक्त गाथा में उक्त कारणों की शान्ति के लिए शान्तिपाठ विसर्जन स्तवन आदि महामहोत्सव के समापन की क्रिया करने का निर्देश आचार्य श्रेष्ठ ने दिया है ॥७३॥

सगं सग गणेण जुत्ता, आयरियं जह-कमेण वंदित्ता।
लहुवा जंति सुदेसं, परिकलियं सूरि सूरेण ॥७४॥

अन्वयार्थ-अनन्तर (सग-सग) अपने-अपने (गणेणजुत्ता) गण से संयुक्त (आयरियं) आचार्य को (जह-कमेण) यथाक्रम से (वंदित्ता) वन्दना करके (सहुणा) प्रशंसनीय (सुदेश) उत्तम देश में (सूरि सूरेण) पराक्रमी आचार्य (परिकलियं) संघ सहित (जंति) विहार करते हैं ॥७४॥

अर्थ-अनन्तर यथाक्रम से अपने-अपने गण-संघ, कुल आदि से संयुक्त आचार्य की यथाक्रम से वन्दना करके सूरि सूर आचार्य भगवन प्रशंसनीय सुदेश में विहार करते हैं ॥७४॥

विशेष-आचार्य पद प्रतिष्ठापना की सम्पूर्ण योग्य विस्तृत क्रिया वैभव के साथ हो जाने पर द्वितीय अवस्था में संघ के सम्पूर्ण त्यागी गण, श्रावकादि जन क्रमपूर्वक अपने समूह सहित नवीन प्रतिष्ठापित सूरिसूर-धीर-वीर आचार्य की विधिवत् वन्दना करते हैं तत्पश्चात् वह सूरि प्रवर सुदेश/उत्तम देश अर्थात् जिनागम में जहां का राजा धर्म से संयुक्त होता हैं, जहां की प्रजा धर्म को प्राण के समान मानती हो, जहां धर्म के आयतन का निर्माण, सुरक्षा और वृद्धि होती हो, जहां की प्रजा न्यायनीति के अनुकूल अपनी सम्पूर्ण प्रवृत्ति करती हो, जहा दीक्षा धारण करने वाले सुलभ हो जहां का जनमानस जिनोपदेश श्रवण ग्रहण का इच्छुक हो ऐसे क्षेत्र, ग्राम, नगर, शहर, देश आदि को आचार्य श्री ने उत्तम देश माना है।

आचार्य ऐसे सुदेश में धर्माचरण, धर्मवृद्धि, धर्म संरक्षण आदि के लिए विहार/विचरण करता है।

अब प्रकारान्तर से यति पद प्रतिष्ठापन के पश्चात् की क्रिया दर्शाते हैं।

प्रथम तो मुनि दीक्षा क्रिया होने के अनन्तर द्वितीय अपने-अपने गण से युक्त आचार्य की भक्ति पूर्वक वन्दना करके "स्थित्वा..गुरुवाम पार्श्वे श्रुत्वा प्रतिक्रमणमीऽति" तात्पर्यार्थ गुरु के बायें हाथ की तरफ बैठकर संयम सम्बन्धी प्रशंसनीय उत्तमोपदेशना को प्राप्त होता है। यथा:

आदाय तं पि लिंगं, गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।

सोच्चा सवद किरियं, उवट्ठदो होदिसो समणो ॥२०७॥ प्र.सा.च.अ.

अर्थात् प्रथम ही परम गुरु अरहंत भट्टारक और दीक्षाचार्य द्वारा भाव एवं द्रव्य इस प्रकार दोनों लिंगों को ग्रहण करके मूलगुरु (अरहंत) एवं उत्तर गुरु (दीक्षाचार्य) को भाव्य-भावक भाव से परस्पर मिलने के कारण जिसमें स्व-पर भेद समाप्त हो चुका है ऐसी नमस्कार -वंदना क्रिया के द्वारा सम्मानित करके भावस्तुति मय तथा भाव वन्दना मय होता है। पश्चात् सर्व सावद्य योग के प्रत्याख्यान स्वरूप एक महाव्रत को सुनने रूप श्रुतज्ञान के द्वारा स्व समय में परिणामित होते हुए आत्मा को जानता हुआ सामायिक

में आरूढ़ होता है। यानि व्रत सहित क्रिया को सुनकर प्रतिक्रमण के द्वारा उपस्थित होता हुआ वह श्रमण होता है। गुरु के द्वारा उपदेश प्राप्त कर देशना मय हो जाता है। इसी को आचार्यों ने शिक्षाकाल कहा है।

दीक्षानन्तरं निश्चय व्यवहार रत्नत्रयस्य परमात्म तत्वस्य च परिज्ञानार्थं तत्प्रतिपादकाध्यात्म शास्त्रेषु यदाशिक्षां गृह्णाति स शिक्षाकाल। पं. का/ता. वृ.

अर्थात् दीक्षा के बाद निश्चय व्यवहार रत्नत्रय तथा परमात्म तत्व के परिज्ञान के लिए उसके प्रतिपादक अध्यात्म शास्त्र को, जब शिक्षा ग्रहण करता है तब वह शिक्षा काल होता है।

इस प्रकार वह नवीन शिष्य दीक्षा के अनन्तर गुरु के वामपार्श्व में स्थित होकर गुरु देशना को प्राप्त करता है ॥७४॥

सो पढदि सव्व सत्थं, दिक्खा विज्जाइ धम्मवत्थं च।

णहु णिंददि णहु रूसदि, संघो वि सव्वत्थं ॥७५॥

अन्वयार्थ-(सो) वह आचार्य (सव्वसत्थं) सम्पूर्ण शास्त्रों को (पढदि) पढ़ता है। (दिक्खा/विज्जाइ) दीक्षा, विद्या आदि (धम्मवत्थं) धर्म वस्तु की (णहुणिंददि) निन्दा नहीं करता (सव्वत्थं)सर्वत्र (संघोवि) संघ भी (णहु रूसदि) किसी तरह रुष्ट नहीं होता है ॥७५॥

अर्थ-वह आचार्य धर्म सिद्धि के लिए सभी शास्त्रों को पढ़ता है, दीक्षा-मुनि पद आदि तथा विद्या-मंत्रादि विद्या सम्यग्ज्ञान आदि की धर्म सिद्धि के लिए निंदा-आलोचना नहीं करता है, तो संघ भी उस आचार्य पर किसी भी तरह रुष्ट नहीं होता है ॥७५॥

विशेष-यहां आचार्य प्रवर निर्देश करते हैं कि वह नवीन दीक्षित आचार्य धर्म व्यवहार धर्म एवं निश्चय धर्म, व्यवहार रत्नत्रय धर्म एवं निश्चय रत्नत्रय धर्म, सराग चारित्र एवं वीतराग चारित्र, सामायिक आदि पंच प्रकार के संयम की सिद्धि के लिए सम्पूर्ण धर्म ग्रन्थों एवं धर्म वस्तु का अध्ययन करता है, परन्तु मुनि पद की निन्दा नहीं करता है, अरहंत आदि की निन्दा-अवर्णवाद नहीं करता है। विद्या-केवलज्ञानी की निन्दा दोषारोपण नहीं करता है, जिनवाणी की निंदा नहीं करता है। इस प्रकार संघ, गण, गच्छ, कुल के अनुकूल प्रवृत्ति जब नवीन दीक्षित की होती है तब गण गच्छ आदि भी उस पर किसी भी तरह कुपित नहीं होता है। ये सब अनुकल प्रवृत्ति शिष्यों के धर्म की सिद्धि के लिए ही होती है। कहा है-

ये शंसंति नमंति साध्विव पुरोभक्त्या भवेयुर्जडाः।
पश्चाज्जैना स्त्रिरत्न सहितान्कुर्वंत्युपालंभनम्॥
शून्यग्राम निविष्ट काष्ठनिगल प्रक्षिप्तपादो यथा।
शंसन्नह्यनुवन्नमन्करशिरो दैन्यं ब्रुवन्मूढ़धी॥४२॥

अर्थात् जो व्यक्ति सामने साधु जनों को देखकर प्रशंसा करता है नमस्कार करता है एवं पीछे से उन रत्नत्रय धारियों की निंदा करता है वह अज्ञानी जीव है। उसकी दीनता, भक्ति ठीक उसी तरह है जैसे कोई सूने ग्राम में बन्धन काष्ठ में किसी के पैर को फंसाने पर रास्ते चलने वालों को देखकर वह दीनता को धारण करता है, स्तुति प्रशंसा करता है, हाथ जोड़ता है आदि अनेक माया पूर्ण क्रियाएं करता है इसी प्रकार साधुओं की प्रशंसा सामने कर पीछे से निंदा करने वालों की दशा होती है।४२॥

अतः पूर्वाचार्यों का सन्देश-

सदद्दृष्टि विबुधंदयालु ममलं चारित्र वंतंगुरुं।
ये कुप्यंति शपन्ति चेतसि सदा प्रद्वेषमाकुर्वते॥
तेषां संवंधनं हरंति यदघं सज्ज्ञान माहंतितद्
ग्रस्तेऽ के तमसा यथा जगदिदं तद्वत्सचित्तो भवेत्॥४३॥

अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि विद्वान, दयालु, निर्मल एवं चारित्रधारी अपने गुरुओं के प्रति क्रोधित होते हैं, उनको गाली देते हैं एवं चित्त में सदा द्वेष करते हैं, उनके संवर्धन को चोर आदि अपहरण करते हैं, एवं उसके ज्ञान को पाप चोर नष्ट करते हैं। जिस प्रकार सूर्य के राहुग्रस्त होने पर यह लोक अंधकार से आवृत्त होता है॥४३॥

इस प्रकार वह नवीन प्रतिष्ठापित आचार्य गुरु, प्राण, कुल आदि की निन्दा नहीं करता हुआ दीक्षा विद्या आदि तथा धर्म की वस्तु एवं जिनागम मय सम्पूर्ण ग्रन्थ/शास्त्रों का पूर्णतः अध्ययन/पठन करता है तो सर्वत्र संघ, गण भी उस आचार्य के प्रति रुष्ट/कुपित नहीं होता, निन्दा नहीं करता बल्कि उसको सहाय्य प्रदान करता है॥

वंदण पमुहं सव्वं जहाकमं करिए परं णिच्चं।
एसो होई विसेसो, तस्स करे सव्व संघोय॥७६॥

अन्वयार्थ-(वंदण पमुह) वन्दना प्रमुख (सव्वं करिए) सम्पूर्ण क्रियाएं (जहाकमं) यथाक्रम/क्रमपूर्वक (साधु)। (परं) उत्तम रूप से (णिच्चं) नित्य ही (करिए)करते हैं। (एसो) यह उसकी (विसेसोहोइ) विशेष है कि (सव्वसंघोय) सम्पूर्ण संघ भी (तस्स करे) उसके आधीन/आश्रित होता है॥७६॥

अर्थ–प्रतिक्रमणादि सर्व क्रियाओं को यथाक्रमानुसार नित्य ही सम्पूर्ण श्रेष्ठ मुनिजनों द्वारा प्रतिष्ठापित आचार्य श्रेष्ठ की वन्दना करते हैं और सम्पूर्ण संघ उस सूरि के आज्ञा में होते हैं, यही उसकी विशेष विधि है अर्थात् उस आचार्य के नियंत्रण अथवा आधीनता में सारा संघ होता है। यही संघ के योग्य प्रवृत्ति है ॥७६ ॥

विशेष–यहां वन्दना–प्रतिवन्दना के क्रम का उल्लेख करते हुए आचार्य वर्य क्रिया एवं आज्ञा विशेष का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नवीन प्रतिष्ठापित आचार्य के सम्मुख चतुर्विध संघ वंदना विधि को सम्मुख लेकर प्रतिक्रमण, स्तव आदि सम्पूर्ण करणीय क्रियाओं को निष्प्रमाद होकर करते हैं और विशेष सारा संघ नवीन आचार्य श्री की आज्ञा में होता है अथवा प्रतिष्ठापित आचार्य के नियन्त्रण/देख–रेख में होता है। जैसा कि जिनागम में उल्लिखित है कि जब संघ का नायक आचार्य अपने सम्पूर्ण शिष्य मंडली/संघ को यह आज्ञा प्रदान करता है कि जिस प्रकार आज पर्यंत मुझे संघाधीपति/आचार्य मान कर मेरी आज्ञा में चलते थे उसी प्रकार आज से मेरी आज्ञा प्रमाण चलने वाले 'अमुक' शिष्यों को आचार्य पद दिया गया है उसकी आज्ञा में तुम सब अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं का आचरण/पालन करो। यह आज से तुम्हारा आचार्य है ऐसा पूर्वाचार्य घोषित करता है। अस्तु इसी को ग्रन्थकार ने विधि विशेष कहा है।

यह नवीन आचार्य पद योग्य कहा अब नवीन मुनि पद योग्य कुछ कर्तव्य प्रकारान्तर से कहते हैं–

सुखेनासीनम व्यग्रं सूरिं वंदेत् सम्मुखम्।
वंदेऽहमिति विज्ञाप्य हस्तमात्रांतरस्थितः ॥६० ॥
प्रमृज्य कर्तरी स्पर्शात्माष्टांगान्यवनीमपि।
पार्श्वर्द्धशय्यायाऽऽनम्य रूपिच्छांजुलिभालकः ॥६१ ॥

तदुक्तं च

विगौरवादि दोषेण सपिच्छांजुलि शालिना।
सद्ष्जसूयोऽऽचार्येण कर्तव्यं प्रतिवंदना ॥६०/६१/६२ ॥ आ. सा.

अर्थात् अनाकुल होकर सुखपूर्वक बैठे हुए आचार्य के सन्मुख एक हाथ दूर गवासन से बैठकर, पिच्छी सहित अंजुलि को मस्तक पर रखकर पूर्व में आचार्य को सूचित करें, कि गुरुदेव मैं वन्दना करता हूं। तदनन्तर गुर्वाज्ञा होने पर अपने आठों अंगों को स्पर्श करें, भूमि आदि को पीछी से संमार्जन करे तथा पिच्छि सहित अंजुलि मस्तक पर रखकर गवासन–गौ आसन से अंगो को झुकाकर भक्ति पूर्वक आचार्य को नमोस्तु

करें। जब मुनिराज आचार्य को वन्दना करते हैं तब सज्जन कमल वन दिवाकर आचार्य, ऋद्धि गौरव, रस गौरव एवं मान गौरव रहित होकर हाथ में पिच्छि लेकर नमोस्तु कह कर प्रति वन्दना करें।

सर्वत्रापि क्रियारंभे वन्दना-प्रतिवन्दने।
गुरु शिष्यस्य साधुनां तथा मार्ग दिदर्शने॥५५/८॥ अ. ध.

अर्थात् सभी नित्य-नैमित्तिक कृतिकर्म के प्रारम्भ में शिष्य को आचार्य की वन्दना करनी चाहिए और उसके उत्तर में आचार्य को शिष्य की वन्दना प्रतिवन्दना करनी चाहिए।

हस्तान्तरेणबाधे संफास पमज्जणं पउज्जंतो।
जाचेंतो वंदणायं इच्छाकारं कुणइ भिक्खू॥६११॥
तेण य ऋद्धिच्चादरयं आइरा रहिएण शुद्धभावेण।
किदियम्मकार कस्सवि सवेगं संजणं तेण॥६१२॥ ष. अ. मू. चा./ष. अ.

अर्थात् बाधा रहित एक हाथ के अन्तर से स्थित होकर शरीर आदि के अन्तर से स्थित होकर भूमि शरीर आदि स्पर्श एवं प्रमार्जन करता हुआ। मुनि वन्दना की याचना-प्रश्न करके वन्दना करता है तात्पर्यार्थ-साधु, देव गुरु की वन्दना करते समय "हस्तान्तरेण" एक हाथ की दूरी कम से कम होनी चाहिए। तत्पश्चात् पिच्छिका से अपने शरीर एवं भूमि का परिमार्जन करके पुनः प्रार्थना करें कि हे भगवान्! मैं आपकी वन्दना करूंगा' गुरु की स्वीकृति पाकर भय, आसादन आदि दोषों का परिहार करते हुए, स्थिर चित्त से विनयपूर्वक उनकी वन्दना करें॥

और कृतिकर्म-वन्दना करने वाले को हर्ष उत्पन्न करते हुए वे गुरु गर्व रहित शुद्धभाव से वन्दना स्वीकार करें। अर्थात् प्रतिवन्दना करते हैं।

भावार्थ-जब शिष्य मुनि, आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुओं की या अपने से बड़े यतिगणों की वन्दना करते हैं तो बदले में आचार्य आदि भी "नमोस्तु" शब्द बोलकर प्रतिवन्दना करते हैं। यही वन्दना की स्वीकृति है। इसी को आचार्य प्रवर ने वन्दना की विधि विशेष बतलाई है॥७६॥

प्रोत्साहन

एवं पय परिठ्ठवणं, जो सक्कदि कारिओ सयं बुद्धो।
सो सिद्धलोय सोक्खं, पावदि अचिरेण कालेण॥७७॥

अन्वयार्थ-(एवं) इस प्रकार (पय परिठ्ठवणं) सूरिपद की स्थापना को (जो) जो (सक्कदि) शक्ति युक्त करता है, (कारिओ) कराने में (सयं बुद्धो) स्वयं बुद्ध-स्वयं

जागृत होता है (भी) वह (अचिरेण कालेण) शीघ्र काल में ही (सिद्धलोय सोक्खं) सिद्धलोक के सुख को (पावदि) प्राप्त करता है ॥७७॥

अर्थ–जो जीव इस प्रकार स्वयं पद प्रतिस्थापना महोत्सव को शुद्ध होकर करता है व करवाता है वह अचिरेण शीघ्र काल में ही सिद्ध लोक के सुख को पाता है ॥७७॥

भावार्थ–यहां पद प्रतिष्ठापन के फल का निरूपण करते हुए भद्रबाहु आचार्य कहते हैं कि जो जीव-नर स्वयं अपने अन्दर राग द्वेषादि, क्रोध मानादि विकारी परिणामों का परिहार करते हुए स्वयं शुद्ध होकर आचार्य पद परिस्थापन करता है अथवा महा महोत्सव को हर्ष पूर्वक करवाता है वह नर सिद्ध लोक के अक्षय निराकुल सुख बहुत- अल्पाल्प काल में ही पा लेता है अर्थात् सिद्ध पद को पाता है ॥७७॥

विहार परिचर्या

पंच सय पिच्छहत्थो अह चदु तिग दोणि हत्थो।
संघ वइ हु सीसो, अज्जा पुणु होदि पिच्छकरा ॥७८॥

अन्वयार्थ–(पंचसय) पांच सौ (पिच्छहत्थो) मयूर पिच्छीधारी (अह) अथवा (चदु) चार (तिग) तीन (दोण्णि) दो या (हत्थो) एक (पिच्छधारी) होते हैं। (संघवइ हु) संघपति भी (आचार्य) (सीसो) शिष्य होता है। (अज्जा पुणु) आर्जिका भी (पिच्छकरा), पिच्छी धारक (होदि)होती है ॥७८॥

अर्थ–वह आचार्य पांच सौ पिच्छि धारी/शिष्य सहित अथवा चार अथवा तीन या दो या एक पिच्छि धारी शिष्य को लेकर विहार करता है। संघपति भी उसका शिष्य होता है और आर्यिका भी पिच्छी धारण करती है ॥७८॥

भावार्थ–यहां पर ग्रन्थकार संघ सम्बन्ध निर्देश करते हैं कि वह संघाधिपति आचार्य जो कि संघ नायक कहलाता है वह अपने साथ ५०० पिच्छिधारी साधुओं को अपने साथ लेकर विचरण करता है अथवा चार, तीन, अथवा दो या एक पिच्छि धारी साधु को अपने साथ लेकर विहार करता है ग्रन्थकार के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि एक आचार्य भी अपने साथ अन्य साधु को साथ में रखकर विहार करता है। इनके लिए भी एक विहार मान्य नहीं था तो सामान्य साधु की तो बात ही क्या। क्योंकि भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य ने भी यहां तक अपनी प्रशस्त लेखनी से कह दिया कि यदि मेरा शत्रु भी हो तो मुनि एकाकी विहार न करें।

संयुक्त सूरि विहार क्रम का वर्णन करने के बाद आचार्य श्री ने उल्लेख किया है कि संघपति/संघ संचालक भी आचार्य का शिष्य होता है उसके आज्ञा में चलता है और आर्यिका भी पिच्छ धारण करती है अर्थात् आर्यिका को भी पिच्छी धारण करना अनिवार्य है हर अवस्था में ऐसा ग्रन्थकार के उक्त वाक्य से स्पष्ट हो जाता है।

नि: पिच्छ अमान्य:

जो सवणो णहु पिच्छं, गिण्हदि णिंदेदि मूढ़ चारित्तो।

सो सवण संघ वज्झो,अवंद णिज्जो सदा होदि ॥७९॥

अन्वयार्थ-(जो सवणो) जो श्रमण /साधु (पिच्छं) पिच्छी को (णहु गिण्हदि) ग्रहण नहीं करता है बल्कि (णिंदेदि) निन्दा करता है (मूढ़ चारित्तो) वह मूढ़ चारित्री है (सो) वह (सवण संघ) श्रमण संघ से (वज्झो) वर्ज्य है (सदा) सदा (अवंदणिज्जो) अवन्दनीय (होदि) होता है ॥७९॥

अर्थ-जो श्रमण-साधु पिच्छी को ग्रहण-स्वीकार नहीं करता है अपितु निन्दा करता है वह मूढ़ चारित्री श्रमण संघ से बाह्य-परिहार करने योग्य तथा सदा अवंनदनीय -वन्दना-प्रतिवन्दना के अयोग्य है ॥७९॥

भावार्थ-जो यति न तो यतित्व का चिन्ह मयूर पिच्छी ग्रहण करता है वरन् निंदा करता है ऐसा यति मोह को उत्पन्न करने वाला मूढ़ चारित्र को धारण करने वाला है, ऐसे शिष्य को आचार्य श्री ने सम्पूर्ण संघ के द्वारा त्याज्य परिहार करने योग्य माना है तथा अन्य यति-सम्पूर्ण संघ के द्वारा वन्दना आदि के अयोग्य माना है। यथा:

गोपुच्छक: श्वेतभासा, द्राविडो यापनीयक:।

निष्पिच्छश्चेति पंचैते, जैनाभास:प्रकीर्तिता ॥१०॥ नी. स.

अर्थात् गाय के बछड़े की पूंछ के बाल की पिच्छी धरण करने वाले, श्वेताम्बर, द्रविड़, यापनीय, पिच्छी रहित-पिच्छी को स्वीकार न करने वाले इस प्रकार इन्द्रनन्दि आचार्य ने पांच प्रकार के जैनाभास-जैन धर्म के अपराधी माना है। इसी से आचार्य प्रवर भद्रबाहु ने ऐसे यतियों के लिए अवन्दनीय वन्दना के अयोग्य स्वीकार किया है क्योंकि पिच्छी धूली और पसेव से मैली नहीं होती है, कोमल-मृदु होती है, कड़ी नहीं होती है, अर्थात् नमनशील एवं हल्की होती है। इस प्रकार ऐसे गुणों से युक्त पिच्छी की प्रशंसा साधुजन करते हैं। यथा:

रयसेयाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।

जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति॥१८॥ भ. आ.

उपर्युक्त पंचगुण संयुक्त पिच्छी होने से यति गणों के लिए जीव दया पालन का एक मात्र साधन है।

इरियादाण णिखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे।

उव्वत्तण-परिवत्तण पसारणा उंटणामस्से ॥१६॥

पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं च होइ सग-पक्खे।
विस्सासियं च लिंगं संजद पडिरूवदा चेव ॥९७॥ भ. अ.

अर्थात् जब यति बैठते हैं, खड़े होते हैं, शयन करते हैं, अपने हाथ पांव पसारते हैं, संकोच लेते हैं, जब वे उत्तानशयन करते हैं करवट बदलते हैं, तब वे अपना शरीर पिच्छिका से परिमार्जन स्वच्छ करते हैं। पिच्छिका से ही जीव दया पाली जाती है, पिच्छिका लोगों में यति विषयक विश्वास उत्पन्न करने का चिन्ह है तथा पिच्छिका धारण करने से वे मुनिराज प्राचीन मुनियों के प्रतिनिधि स्वरूप हैं ऐसा सिद्ध होता है।

अतः निश्चयं पिच्छी धारण करना जिनागम सिद्ध है इससे विरुद्ध पिच्छी को अस्वीकार करने वाला मूढ़ चारित्रवान यति अवन्दनीय एवं संघ बाह्य है ॥७९॥

इय भद्दबाहु सूरी, परमत्थ परूवणो महतिओ।
जेसिं होइ समत्थो, ते धण्णा पुण्ण पुण्णाय ॥८०॥
"इति भद्दबाहु स्वामि कृत जिन क्रियासार: समाप्त:"

अन्वयार्थ-(इय) इस प्रकार जो (भद्दबाहु सूरी) भद्रबाहु आचार्यकृत (परमत्थ) परमार्थ का (परूवणो) निरूपण करने वाले (महतिओ) महान तेजस्वी हैं। वे कहते हैं (जेसिं)जिसमें (समत्थो होई) ऐसा सामर्थ्य है (ते) वे (धण्णा) धन्य हैं, (पुण्ण पुण्णाय) पूर्णतः पुण्यवन्त हैं ॥८०॥

अर्थ-इस प्रकार महा तेजस्वी परमार्थ का निरूपण करने वाले भद्रबाहु आचार्य कहते हैं कि जिसमें ऐसा सामर्थ्य है वे धन्य हैं एवं पुण्यवन्त हैं ॥८०॥

भावार्थ-उपरोक्त जिन प्ररूपित मार्ग का निरूपण कर संयम प्रतिष्ठापना के प्रकरण का उपसंहार करते हुए महान तपरूपी तेज को धारण करने वाले महा तेजस्वी, परमार्थ-परम यानि संयम, चारित्र एवं सर्वोत्तम अर्थ-कार्य का निरूपण करने वाले आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि जिन जीवों में संयम, चारित्र आदि में स्वयं स्थापित होने और स्थापित करने की सामर्थ्य-शक्ति है वे जीव धन्य हैं अर्थात् स्तुति के पात्र हैं, प्रशंसा करने योग्य हैं तथा भाग्यशाली हैं एवं वे ही सम्पूर्ण-भरपूर सुकृत से परिपूर्ण हैं ॥८०॥

इस प्रकार भद्रबाहु स्वामी के द्वारा कथित क्रियासार ग्रन्थ समाप्त हुआ

"इति श्री"

परिशिष्ट-1

दीक्षोद्देश्य [हिताहित कर]

दीक्षा गृह्णन्ति मनुजाः स्वकर्म हरणाय वै ।
स्वपुण्य वृद्धये केचिद् केचित् संसृति मुक्तये ॥24॥

विश्व जीवानुकंपावान् धर्म प्रद्योत कारकः ।
यथा श्रीगौतमस्वामी केचिदात्मविशुद्धये ॥25॥

कश्चित् स्वकुलनाशाय दुष्कृतोपार्जनाय वा ।
बंधुवर्ग विनाशाय द्वीपायन मुनिर्यथा ॥26॥

कश्चिदात्म विनाशाय निजधर्मैकहानये ।
दुष्ट-मिथ्याग्रहग्रस्तः पार्श्वनामा मुनिर्यथा ॥27॥

कश्चिदुच्चासनासक्तः कषायानच्छ मानसः ।
काष्टांगार इवाभाति प्रध्वस्त निजवल्लभः ॥28॥ दी. शा./ पा. भे.

अर्थात् संसार में कोई मनुष्य अपने कर्मों का नाश करने के लिए दीक्षा लेते हैं। कोई अपने पुण्य की वृद्धि के लिए दीक्षा लेते हैं । कोई संसार से छूटने के लिए दीक्षा लेते हैं ॥

संसार के समस्त जीवों के प्रति अनुकम्पा रखने वाले, धर्म की प्रभावना करने वाले श्री गौतम स्वामी ने जिस प्रकार आत्मशुद्धि के लिए दीक्षा ली है वैसे ही कोई-कोई दीक्षा लेते हैं ॥

कोई-कोई द्वीपायन मुनि के समान अपने कुल का नाश करने के लिए, पापों का उपार्जन करने के लिए एवं बंधु वर्गों का संहार करने के लिए दीक्षा लेते हैं ।

कोई-कोई पार्श्वमुनि के समान अपने नाश के लिए, अपने धर्म के नाश के लिए, दुष्ट-मिथ्यात्वरूपी भूत के वशीभूत होकर दीक्षा लेता हैं ॥

कोई-कोई काष्टांगार के समान उच्च आसनों-पद के लोलुपी होकर, कषाय कलुषित चित्त से अपने स्वामी के नाश करने की भावना से दीक्षा लेते हैं ॥24-28॥

देह क्लेश सहाः केचित्परोत्कर्षा सहिष्णवः ।
नाशयंति जनान्धर्म भूपा भूत्वाग्र जन्मनि ॥29॥

तपांसि धृत्वा कायेन हृद्वाराभ्यां ध्नंति तानि च ।
वोत्खातयंतः शास्त्यानि मुक्त्वा श्वेतार्जुनानि च ॥30॥

अन्योन्य-मत्सरा: केचिन्मुनयो: मुनिदूषका: ।
स्वामि दत्तार्थं भुंजाना इव स्व-स्वामि-दूषका: ॥31॥

केचिद्विरागिणो भूत्वा विधानीयाति रागिण: ।
कुलालामत्र निक्षिप्त शिखि वत्कामविह्वला: ॥32॥

लब्ध्वा राज्यमथंतीक्ष भूपा बंधून्बलानि च ।
धृत्वा दीक्षां धनं लब्ध्वा केचिद्बान्धव पोषका: ॥33॥

स्वामी द्रोहाश्रितं देशं मुक्त्वारि-विषयं गता: ।
स्वामीद्रोहधरा केचिद् शक्ता निरयं गता: ॥34॥

निन्दन्ति निन्दयंत्येव सद्गोत्रान्साधु पुंगवान् ।
जिनरूप धरा: केचित् वायुभूत्यादयो तथा ॥35॥

मायया केचिदेवात्र देह संस्कार कारका: ।
आत्मघातक दुर्भावा वैदिक ब्राह्मणा इव ॥36॥

व्यवहृत्यान्यदेशेषु नष्ट्वा स्वैरार्जितं धनं ।
ये नरास्ते यथा केचित्स्वकाय-क्लेश तत्परा: ॥37॥

केचिदूषवति क्षेत्रे नित्याश्रित कृषिक्रिया: ।
अलब्ध धान्या वर्तंते यथास्युर्निष्फल क्रिया ॥38॥

सर्वारम्भ परिभ्रष्टा: केचित्स्वोदरपूर्तये ।
केचित्स्वर्ग सुखायैव केचिदैहिक-भूतये ॥39॥

दत्तेस स्याद्यथा दीक्षां यो मुनिर्बहिरात्मन: ।
काष्ठांगार स्थापित श्री जीवंधरापिता यथा ॥40॥ दा. शा./पा. धे. अ.

अर्थात्-कोई-कोई देह के क्लेश को सहन करने वाले होते हैं और कोई दूसरों के उत्कर्ष को सहन करने वाले नहीं होते हैं । वे आगे के जन्म में राजा होकर प्रजा व धर्म का नाश करते हैं ॥२९॥

कोई-कोई काय से तप धारण कर वचन और मन से उसका नाश करते हैं । वे उसी के समान मूर्ख है, जो खेत में व्यर्थ के घासों को काटना छोड़कर सस्यों-धान्यों को ही काटकर नाश करता है ॥३०॥

कोई-कोई मुनि एक दूसरे के प्रति मत्सर युक्त होकर परस्पर एक दुसरे की निन्दा किया करते हैं जिस प्रकार कि स्वामी के दिये हुए धन को खाते हुए भी नीच सेवक अपने स्वामी की निन्दा करते हैं ॥३१॥

कोई-कोई मुनि विरागी होते-कहलाते हुए भी बिम्ब फल के समान अत्यन्त रागी होते हैं। कुम्भकार के मटकों को पकाने वाली अग्नि के समान काम पीड़ित रहते हैं ॥३२॥

जिस प्रकार राजा राज्य प्राप्ति करके अपने बन्धुगण और सैन्य का रक्षण करते हैं। उसी प्रकार कोई मुनि दीक्षा धारण कर धन कमाते हैं और अपने बांधवों का पोषण करते हैं॥

स्वामी द्रोह के कारण जो अपने देश को छोड़कर शत्रु-राज्य में जावे तो वहां पीड़ित होते हैं, इसी प्रकार कितने ही अपने स्वामी व गुरु की निंदा करने से नरक गये हैं ॥३४॥

कोई-कोई वायुभूति आदि मुनियों के समान मुनि होते हुए भी उत्तम कुलगोत्र में उत्पन्न साधुओं की स्वयं निंदा करते है और दूसरों से निंदा कराते है ॥३५॥

कोई-कोई मुनि वैदिक ब्राह्मणों के समान मायाचार से देह संस्कारों को करते हैं और आत्मघात करने वाले दुर्विचारों को सदा मन में लाते रहते हैं ॥३६॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य परदेश में व्यापार कर कमाये हुए धन को खोकर आता है, उसी प्रकार कोई-कोई मुनि व्यर्थ कायक्लेश कर जन्म खोते हैं ॥३७॥

कोई-कोई मूर्ख किसान जो कि सदा ऊसर भूमि में ही कृषि करता रहता है परन्तु धान्य को पाता नहीं है । उसी प्रकार कोई-कोई मुनि अन्यथा रूप क्रियाओं को करने से यथार्थ फल को पाते नहीं।।३८॥

समस्त आरंभों से भ्रष्ट होकर कोई-कोई मुनि अपने उदर पोषण के लिये दीक्षा लेते हैं। कोई स्वर्ग सुख की प्राप्ति के लिये और कोई ऐहिक संपत्ति की प्राप्ति के लिए दीक्षा लेते हैं ।।३९॥

जो मुनि ऐसे बहिरात्माओं को बिना विचार किये ही दीक्षा दे देते है, वह उसी प्रकार की दीक्षा है, जैसे काष्टांगार को सत्यंधर राजा ने राज्यश्री दे दी ॥40॥

दीक्षानक्षत्रफलादेश:

अर्थात्

किस नक्षत्र में दीक्षा लेने से क्या फल होता है

(आचार्य 108 श्री महावीरकीर्तिजी की डायरी से)

(1) अश्विनीनक्षत्रे दीक्षित: आचार्यो भवति पञ्चपुरुषाणां दीक्षादायको मिष्ठान्नभुक्त: अपमृत्युद्वयमविना चतु चत्वारिंशद्वर्षाणि जीवति ।

(2) भरणीनक्षत्रे दीक्षितो अनशनादितप: कारक: गुरु को व्रतभ्रष्टो भूत्वा पुनर्व्रतं स्वीकृत्य द्विपष्ठी वर्षाणि जीवति ।

(3) रोहिण्यां दीक्षित: मिष्ठान्नभोक्ता, विदेशपरिभ्रमणशील:, अपमृत्युद्वयेनवंचित: व्रतभ्रष्टो भूत्वा, पुन: व्रतं स्वीकृत्य सप्तति वर्षाणि जीवति ।

(4) मृगशिरे दीक्षित: आचार्यो भवति द्वाविंशति पुरुषाणां दीक्षादायक: समस्तसंघाधारी भूत्वा सप्तति वर्षाणि जीवति । (उत्तमातिउत्तम)

(5) आद्रायां दीक्षितो जितेन्द्रिया द्वापष्ठी वर्षाणि जीवति । (मध्यम)

(6) पुनर्वसुदीक्षिता पञ्चवर्षाण्यन्तरं तपश्चुत्वा भ्रष्टो भूत्वा पुनर्व्रतं स्वीकृत्य तिसणामार्यिकाणां दीक्षादायक: सप्तति वर्षाणि जीवति ।

(7) पुष्यनक्षत्रे दीक्षित: तप: कृत्वा, आचार्य: पञ्चपुरुषाणां दीक्षादायक:, मेधावी विंशति (शत) वर्षाणि जीवति । (उत्तमातिउत्तम)

(8) मघायां दीक्षित: प्रशस्ताचारवान् विनीत: षष्ठ वर्षाणि जीवति । (मध्यम)

(9) आश्लेषायां दीक्षितो विदेशगामी दुखित: गुरुविनीता, व्रततपश्च्युतोभूत्वाषष्ठी वर्षाण्यन्तरं सर्पदंष्ट्रो म्रियते ।

(10) पूर्वाफाल्गुनीयां दीक्षित: पंचदशपुरुषाणां दीक्षादायक: व्रतभ्रष्ट: भूत्वा पुन: स्वीकृत्य नवति वर्षाणि जीवति ।

(11) उत्तराफाल्गुनीयां दीक्षित: आचार्य: अशीति वर्षाणि जीवति, मधुराहारभोजी ।

(12) हस्तायां दीक्षित आचार्य: पञ्चस्त्रीणां पञ्चपुरुषाणां दीक्षागुरु भूत्वा शत वर्षाणि जीवति।

(13) स्वातौ दीक्षित: षष्ठि वर्षाणि जीवति ।

(14) चित्रायां दीक्षितोऽशीति वर्षाणि जीवति एके आयातिदीक्षां ।

(15) विशाखायां दीक्षितः तपश्चुत्वा अशीति वर्षाणि जीवति ।

(16) अनुराधा दीक्षितः आचार्यः सप्ततिपुरुषाणां दीक्षागुरु भूत्वा नवति वर्षाणि जीवति मिष्ठान्नभोजि । आर्यिका व्रत को (उत्तम)

(17) ज्येष्ठायां दीक्षितः एकाग्री उग्रतपस्वी षट्पञ्चाशत् वर्षाणि जीवति । (मध्यम)

(18) मूले दीक्षितो मिष्ठान्नभोक्ता अपमृत्युत्रयच्युतो भूत्वा नवति वर्षाणि जीवति ।

(19) पूर्वाषाढायां दीक्षितः उपसर्गत्रय सहिष्णु तपच्युत्वा पुनः व्रतं स्वीकृत्य अशीति वर्षाणि जीवति ।

(20) उत्तराषाढायां दीक्षितो तपश्च्युत्वा अतिरोगोद्‌यपि मृत्युतोभूत्वा स्त्रीद्वय पुरुषपंचकं च दीक्षयित्वा षष्ठि वर्षाणि जीवति ।

(21) श्रावणे दीक्षितः द्वादश पुरुषाणां गुरु, मिष्ठान्नभोक्त, विंशत्युत्तरा शतवर्षाणि जीवति। आर्यिका । (उत्तमातिउत्तम)

(22) धनिष्ठायां दीक्षितः आचार्यः अशीति वर्षाणि जीवति । (उत्तम, मध्यम)

(23) शततारे दीक्षितः पञ्च-पञ्च पुरुषाणां दीक्षा गुरु नवति-नवति वर्षाणि जीवति ।

(24) पूर्वाभाद्रपदो दीक्षितः द्वादश पुरुषाणां दीक्षा गुरु । अशीति वर्षाणि जीवति । (मध्यम)

(25) उत्तराभाद्रपदे दीक्षितः मिष्ठान्नभोजी द्वादश पुरुषाणामार्यिकाणां गुरुः । अशीति वर्षाणि जीवति । आर्यिका (मध्यम)

(26) रेवत्यां दीक्षितो मिष्ठान्नभोजी आचार्यो भूत्वा विंशति वर्षाणि जीवति । (उत्तम)

(27) कृतिकायां दीक्षितः आचार्यः पञ्च पुरुषाणां दीक्षादायकः भ्रष्ट व्रतवान्, षण्णवति वर्षाणि जीवति ।

नोट:- जिस नक्षत्र के आगे 'आर्यिका' शब्द लिखा है उस नक्षत्र में आर्यिका दीक्षा, क्षुल्लिकादीक्षा और मुनि क्षुल्लक दीक्षा आदि सब दीक्षा हो सकती है । ये नक्षत्र स्त्री, पुरुष दोनों के लिए हैं।

दीक्षा का सामान

गंदोधक और दही थोड़ा-सा, भस्म- 1 नारियल, कपूर 2 तोला, केशर 10 ग्राम, गोमय-थोड़ा-सा (जिसको इष्ट हो तो ले, नहीं तो नहीं), सुपारी 5 ठोस, नारियल की काचली अगर क्षुल्लक दीक्षा हो तो 11 और मुनि दीक्षा हो तो 13, चावल- 5 किलो, कपड़ा 1 गज, पीच्छी 1, कमण्डलु 1, वस्त्र 1, दूर्वा । अगर क्षल्लिका दीक्षा हो तो 16 हाथ की दो साड़ी, २॥ गज के दो दुपट्टा, अगर आर्यिका दीक्षा हो तो 16 हाथ की दो साड़ी । अगर क्षुल्लक दीक्षा हो तो दो लंगोटी रसदर (दुपट्टा) खंडवस्त्र व भोजन करने के लिए एक कटोरा, द्राक्षी सूखी 500 ग्राम, लौंग-50 ग्राम, इलायची-50 ग्राम, खारक-500 ग्राम, खड़ी हल्दी-500 ग्राम, सुपारी-500 ग्राम ।

दीक्षामुहूर्तावलि

मासः	चै. वै. श्रा. आश्वि. का. मार्ग. माघ. फा. एतन्मासे शुभम् नाधिमासे ।
नक्षत्राः	आश्वि. रो. उ. ३ चि. रे. ऽनु. पुष्य. स्वाति. पुन मू. श्र. ध. श. एषुसत् ।
वासराः	सू. चं. बु. बृ. शु. एषामह्नि भद्रादिदोषवर्जिते सदि प्रशस्तम् ।
तिथयः	२ । ३ । ५ । ७ । १० । ११ । १२ । एतासु तिथिश्रेष्ठं कृष्णेवा चत्पञ्चमींसत् ।
शुद्धलग्न	२ । ३ । ४ । ५ । ६ । ७ । ९ । १२ एतद्धरयाङ्गेषुचन्द्रतारानु कूलेसति शुभम् ।
लग्न	लग्नात ३ । ६ । ११ एषुपापैः १ । ४ । ५ । ७ । ९ । १० । एषुभुशुभैश्चौत्तमम् ।
शुद्धिश्च	अष्टम्यां संक्रान्तौ रविचन्द्रोपरागेचोत्तंम् । गुरुशुक्रयोरुदये श्रेष्ठम् ।

	लग्न	
जघन्य चर	उत्तर स्थिर	मध्यम द्विस्वभाव
मेष	वृषभ	मिथुन
कर्क	सिंह	कन्या
तुला	वृश्चिक	धनु
मकर	कुम्भ	मीन
इन लग्नों में दीक्षा कभी नहीं देना चाहिए जघन्य	स्थिर लग्न में दीक्षा देना उत्तम है	इन लग्नों में दीक्षा देना मध्यम है

दीक्षा-नक्षत्राणि

प्रणम्य शिरसा वीरं जिनेन्द्रममलव्रतम् ।
दीक्षा नक्षत्राणि वक्ष्यन्ते सतां शुभ फलाप्तये ॥1॥

भरण्युत्तरफाल्गुन्यौमघाचित्रा विशाखिका: ।
पूर्वाभाद्रपदा भानि रेवती मुनि-दीक्षणे ॥2॥

रोहिणी चोत्तराषाढा उत्तराभाद्रपत्तथा ।
स्वाति: कृतिकया सार्धं वर्ज्यते मुनिदीक्षणे ॥3॥

आश्विनी-पूर्वाफाल्गुन्या हस्तस्वात्यनुराधिका: ।
मूलं तथोत्तराषाढा श्रवण: शत भिषक्तथा ॥4॥

उत्तराभाद्रपच्चापि दशेति विशदाशया: ।
आर्यिकाणां व्रते योग्यन्मुचन्ति शुभहेतव: ॥5॥

भरण्यां कृत्तिकायां च पुष्ये श्लेषार्द्रयोस्तथा ।
पुनर्वसौ च नो दद्युरार्यिकाव्रतमुत्तमा: ॥6॥

पूर्वाभाद्रपदा मूलं घनिष्ठा च विशाखिका ।
श्रवणर्क्षेषु दीक्षन्ते क्षुल्लका: शल्यवर्जिता: ॥7॥

इति दीक्षानक्षत्रफलम्

द्वादश माह दीक्षा फल

चैत्र	अशुभ अति दु:खदायक	आश्विन	सुख वृद्धि
वैशाख	रत्नलाभ	कार्तिक	धन वृद्धि
ज्येष्ठ	अशुभ मरण	मगसर	शुभदायक
आषाढ़	अशुभ, बंधु नाश	पोष	अशुभ, ज्ञान हानि
श्रावण	शुभ कारी	माघ	ज्ञान की वृद्धि, बुद्धि वृद्धि
भादो	अशुभ, प्रज्ञा हानि	फागण	यश वृद्धि, सौभाग्य वृद्धि

तिथ्यादि गुणन फल

	[illegible]	गुण
(1)	तिथि का	1 गुण
(2)	नक्षत्र का	4 गुण
(3)	वार का	8 गुण
(4)	करण का	16 गुण
(5)	योग का	32 गुण
(6)	तारा का	60 गुण
(7)	लग्न का	1 करोड़ गुणा
(8)	चन्द्र का	100 करोड़ गुणा

मासादि शुद्धाशुद्ध विचार

(1) मास–सुख व भोग	शुभ चन्द्र- अभीष्ट सिद्धि
(2) तिथि–धन व ऐश्वर्य	शुभ वार–सर्व सम्पत्ति प्राप्ति
(3) नक्षत्र–कार्य सिद्धि	शुभ मुहूर्त-चित्त प्रसन्न हो
(4) करण-धन प्राप्ति	शुभ लग्न–आनन्ददायी
(5) योग-इष्ट वस्तु प्राप्ति	लग्नेश–पराक्रम वृद्धि
	बली लग्न–सर्वगुणों का उदय

कार्य हेतु ग्रह बल

कार्य	बल	कार्य	बल
(1) विवाह व उत्सव	- गुरु का	(2) रजो दर्शन में	-सूर्य का
(3) संग्राम में	–मंगल का	(4) विद्याध्ययन में	-बुध का
(5) यात्रा में	शुक्र का	(6) दीक्षा में	- शनि का
(7) सर्व कार्य में	- चन्द्र का देखना चाहिए		

किसके कौन बली

तारा बली होने से	शुभ चन्द्र बली होता है
चन्द्र बली होने से	सूर्य बली होता है
सूर्य बली होने से	मंगलादि सर्व ग्रह बली होते हैं

परिशिष्ट-2

जिनदीक्षा देने योग्य गुरु एवं श्रमणत्व

नाहं भवामि कस्याऽपि न किंचन ममापरम् ।
इत्यिकंचनतोपेतं निष्कषायं जितेन्द्रियम् ॥4॥

नमस्कृत्य गुरुर्भक्तया जिनमुद्रा-विभूषितम् ।
जायते श्रमणोऽसङ्गो विधाय व्रत संग्रहम् ॥5॥॥

जिनलिंग को धारण करने के लिए जिस गुरु के पास जाना चाहिए उसके गुणों को प्रमुख रूप से बता दिया कि वह गुरु तीन मुख्य गुणों से सम्पन्न हो (1) मैं किसी का नहीं और न दूसरा कोई पर पदार्थ मेरा है । 'अकिंचन भावना' । (2) कषाय रहित निष्कषायी और (3) इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किये हुए जितेन्द्रिय होना चाहिए । ये गुण जिसमें नहीं वह जिनलिंग की दीक्षा देने योग्य नहीं । इन गुणत्रय सम्पन्न गुरु को नमस्कार करके (दीक्षा ग्रहण के भाव को निवेदन करके) गुरु के द्वारा उपदिष्ट व्रतों को ग्रहण करके जिनमुद्रा से विभूषित नि:संग/परिग्रह रहित हुआ वह मुमुक्षु-दीक्षित होने वाले का लक्ष्य एक मात्र मोक्ष की इच्छा होना चाहिए ऐसा मुमुक्षु 'श्रमण' होता है ।

जिनदीक्षा लेने योग्य पुरुष

शान्तस्तप: क्षमोऽकुत्सो वर्णेष्वेक तमस्त्रिषु ।
कल्याणाङ्गो नरोयोग्यो लिङ्गस्य ग्रहणे मत: ॥518॥ यो. सा.

जो शान्त स्वभावी हो, तप करने में समर्थ, दोषरहित, ब्राह्मणादि त्रिवर्ण में से किसी एक वर्ण से संयुक्त, कल्याणस्वरूप सुन्दर सम्पूर्ण अवयव से सम्पन्न है वह जिनलिंग धारण करने योग्य माना है ।

लोभिक्रोधि विरोधि निर्दयशपन मायाविनां मानिनां ।
केवल्यागम धर्मसंघ विबुधावर्णानुवादात्मनाम् ॥

मुंचामो वदतांस्वधर्ममलं सध्दर्म विध्वंसिनां ।
चित्र क्लेशकृतां सतां च गुरुभिर्देयान दीक्षा क्वचित् ॥41॥

जो लोभी, क्रोधी, धर्मविरोधी, निर्दयता से गाली देने वाला, मायावी, मानी, केवली, आगम, धर्म, संघ एवं देव इन पर दोषारोपण करने वाला, समय आने पर मैं निर्मल धर्म को छोड़ दूंगा इस प्रकार कहने वाला, सद्धर्म का नाशक, एवं सज्जनों के चित्त में क्लेश उत्पन्न करने वाला मनुष्य को गुरुजन कभी भी दीक्षा नहीं देवें ॥ दा. शा.

कुल-जाति-वयो-देह-कृत्य-बुद्धि-क्रुधादय: ।
नरस्य कुत्सिता व्यङ्गास्तदन्ये लिङ्ग योग्यता ॥52॥8॥

जिनलिंग ग्रहण में कुकुल-विकृत कुल, कुजाति-जाति संकरादि संयुक्त कुवय अतिबाल-अतिवृद्ध आदि, कुदेह-रोगी, कुकृत्य-सप्तव्यसन, पापादिरत, कुबुद्धि-मिथ्यात्वादि ग्रसित, कुक्रोधादिक-क्रोधादि कषाय संयुक्त ये मनुष्य के जिनलिंग ग्रहण में व्यंग अर्थात् भंग अथवा बाधक हैं । इनसे भिन्न सुकुलादि लिंग धारण की योग्यता को लिये हुए हैं ।

पंचम काल में जिन लिंग सम्भव

तरुणस्य वृषस्योच्चै: नदतो विहृतीक्षणात् ।
तारुण्य एव श्रामण्ये स्थास्यन्ति न दशान्तरे ॥75॥ म. पु.

समवशरण में भरत चक्री के स्वप्न फल बताते हुए भगवान कहते हैं कि ऊंचे स्वर से शब्द करते हुए तरुण बैल का विहार देखने से सूचित होता है कि लोग तरुणावस्था में ही मुनिपद में ठहर सकेंगे, अन्यावस्था में नहीं ।

कोऽपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं, मिथ्यात्वादि कलङ्क रहित: सद्धर्म रक्षामणि: ॥241॥ नि. सा

कलिकाल में भी कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादि स्वरूप मल कीचड़ से रहित रक्षामणि ऐसा समर्थ मुनि होता है ।

दीक्षा योग्य काल

जब कोई आसन्न भव्य जीव भेदाभेद रत्नत्रयात्मक आचार्य को प्राप्त करके आत्मराधना के अर्थ बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग करके दीक्षा ग्रहण करता है। वह दीक्षा काल है । प. का./ता. वृ.

दीक्षा के अयोग्य काल

जिस दिन ग्रहों का उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य चन्द्र पर परिवेष हो, इन्द्रधनुष उठा हो, दुष्ट ग्रहोदय हो, आकाश मेघ पटल से ढका हो, क्षयमास अथवा अधिक मास हो, संक्रान्ति हो अथवा क्षयतिथि हो उस दिन बुद्धिमान आचार्य मोक्ष के इच्छुक भव्यों के लिए दीक्षा की विधि न करें ॥159-160॥ म. पु.

इस प्रकार सर्वगुण सम्पन्न गुरु देव के द्वारा स्वीकृत होने के लिए अपने सकुटुम्ब को सान्त्वना पूर्वक पूछताछ कर मीठे शब्दों से संतोष दिलाकर क्षमा याचना, क्षमाप्रदान कर गुरु चरणों में श्रद्धा भक्ति पूर्वक विनय करते हुए दीक्षा की याचना करें । गुरू भी

निकट भव्य, अचिर कल्याणेच्छु समझकर निश्चित शुभ तिथ्यादि पर जिनदीक्षा प्रदान करते हैं जिसकी वर्तमान में प्रचलित विधि इस प्रकार है ।

मुनि/यति पद प्रतिष्ठा विधि

गाथा

सिद्धयोगिबृहद्भक्तिपूर्वकं लिङ्गमर्प्यताम् ।

लुन्चाख्यानाग्न्यपिच्छात्म क्षम्यतां सिद्धभक्तिः ॥

बृहत्सिद्धभक्ति और बृहत्योगिभक्ति पूर्वक लोचकरण, नामकरण, नग्नताप्रदान और पिच्छप्रदान रूप लिंग अर्पण करें और सिद्धभक्ति पढ़कर लिंगार्पणविधान को समाप्त करें ।

दीक्षादानोत्तरकर्त्तव्यम्-

व्रतसमितीन्द्रियरोधाः पंच पृथक् क्षितिशयो रदाघर्षः ।

स्थितिसकृदशने लुञ्चावश्यकषट्के विचेलताऽस्नानम् ॥

इत्यष्टाविंशतिं मूलगुणान् निक्षिप्य दीक्षिते ।

संक्षेपेण सशीलादीन् गणी कुर्यात्प्रतिक्रमम् ॥

उस दीक्षित में पांच व्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियनिरोध, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन, सकृद्भुक्ति, लोच, छह आवश्यक, अचेलता और अस्नान इन अट्ठाईस मूल गुणों को, संक्षेप से चौरासी लाख गुणों तथा अठारह हजार शीलों के साथ साथ स्थापित कर दीक्षादाता आचार्य उसी दिन व्रतारोपण प्रतिक्रमण करे । यदि लग्न ठीक न हो तो कुछ दिन ठहर कर भी प्रतिक्रमण कर सकता है ।

२६-अन्यदातनलोचक्रिया-

लोचो द्वित्रिचतुर्मासैर्वरो मध्योऽधमः क्रमात् ।

लघुप्राग्भक्तिभिः कार्यः सोपवासप्रतिक्रमः ॥

दूसरे, तीसरे या चौथे महीने में लोच करना चाहिए । दो महीने से लोच करना उत्कृष्ट, तीन महीने से मध्यम और चार महीने से उपवास सहित लोच करना चाहिए ॥

लोचक्रिया

अथ लोच प्रतिष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि-

('तवसिद्धे' इत्यादि)

अथ लोच प्रतिष्ठापनक्रियायां योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोमि-

(अनन्तरं स्वहस्तेन परहस्तेनापि वा लोचः कार्यः)

अथ लोच निष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि-

('तवसिद्धे' इत्यादि) अनन्तरं प्रतिक्रमणं कर्तव्यम् ।

बृहद् (मुनि) दीक्षा विधि

दीक्षकः पूर्वदिने भोजन समये भाजनादि तिरस्कार विधिं विधाय आहारं गृहीत्वा चैत्यालये आगच्छेत् । ततो बृहत्प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापने सिद्धयोग भक्ति पठित्वा गुरु पार्श्वे प्रत्याख्यानं सोपवासं गृहीत्वा, आचार्य शांति-समाधि भक्तिः पठित्वा गुरोः प्रणामं कुर्यात् ।

भावार्थ-दीक्षा के पहले दिन दीक्षा लेनेवाला भोजन के समय धातु मिट्टी पात्रादिक की त्याग (भाजन तिरस्कार) विधि करके और आहार ग्रहण करके, अर्थात्-दीक्षा के पहले दिन दीक्षा लेनेवाला पात्रादिक में भोजन नहीं करके कर पात्र में आहार करके चैत्यालय में आवे, फिर बृहत्प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन में सिद्ध भक्ति एवं योगभक्ति को पढ़कर गुरु के पास में चार प्रकार को आहार का त्याग करके उपवास ग्रहण करें । फिर आचार्य, शांति एवं समाधि भक्ति का पाठ पढ़कर गुरु को प्रणाम करें ।

अथ-दीक्षादाने दीक्षादातृजनः शांतिकगणधरवलय पूजादिकं यथाशक्ति कारयेत् । अथ दीक्षकं स्नानादिकं कारयित्वा यथा योग्यालंकार युक्तं महामहोत्सवेन चैत्यालये समानयेत् । स देवशास्त्रगुरुणां पूजां विधाय वैराग्य भावना परः सर्वैः सह क्षमां कृत्वा गुरोरग्रे तिष्ठेत् । ततो गुरोरग्रे संघस्याग्रे च दीक्षायै यांचां कृत्वा तदाज्ञया सौभाग्यवती स्त्री विहित स्वस्तिकोपरिश्वेतवस्त्रं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वदिशाभिमुखः पर्यंकासनं कृत्वा आसने, गुरोश्चोत्तराभिमुखो भूत्वा, (1 संघाष्टकं संघं) च परिपृच्छाय लोचं कुर्यात् ।

भावार्थ-दीक्षा के कुछ दिन पहले दीक्षा दिलवाने वाले दाता मन्दिर में शांतिकारक एवं गणधरवलय विधान की पूजन यथाशक्ति करावे, फिर दीक्षा के दिन दीक्षा लेनेवाले सज्जन को दाता अपने घर मंगल स्नानादिक कराकर यथायोग्य सुन्दर वस्त्राभूषण पहनाकर बड़े समारोह के साथ गाजे बाजे से मंदिर में लावें और वह आनंदपूर्वक देवशास्त्रगुरु सिद्धादिक की पूजन समारोह के साथ करके वैराग्य भावना में तत्पर वह दीक्षक सर्व गृहस्थ एवं अपने कुटुम्बिजनों से क्षमा करावे एवं स्वयं क्षमा करके गुरुदेव के सामने बैठ जावे । तदनन्तर संघ के सामने गुरु महाराज से दीक्षा की याचना करके गुरु की आज्ञा से सौभाग्यवती स्त्री द्वारा बनाये गये श्वेत वस्त्र से ढंके हुए चावल के स्वस्तिक पर उस

समय पूर्वाभिमुख पद्मासन से बैठ जावे और गुरु महाराज उत्तराभिमुख बैठ जावे। फिर दीक्षा लेनेवाला गुरुमहाराज से पूछकर केशलुंच करे ।

शांति मंत्र

ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मषाय दिव्यतेजो मूर्तये श्री शांतिनाथाय शांतिकराय सर्व विघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्यु विनाशनाय सर्वपरकृत क्षुद्रोपद्रव विनाशनाय सर्व क्षामडामर विनाशनाय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि-आउसा अमुकस्य ...... (यहाँ दीक्षा लेनेवाले का नाम लेवे) सर्व शांतिं कुरु कुरु स्वाहा-

इत्यनेन मन्त्रेण गन्धोदकादिकं त्रिवारं मंत्रयित्वा शिरसि निक्षिपेत् । शांतिमंत्रेण गन्धोदकं त्रिपरिषिच्य मस्तकं वाम हस्तेन स्पृशेत् ।

भावार्थ-इस शान्ति मंत्र को बोलते हुए आचार्य तीन बार दीक्षक के मस्तक पर गन्धोदक डाले और बायें हाथ से दीक्षक के मस्तक को स्पर्श करे ।

वर्द्धमान मंत्र

ॐ नमो भयवदो वड्ढमाणस्स रिसहस्स चक्कं जलंतं गच्छई आयासं लोयाणं जये वा, विवादे वा, थंभणे वा, रणंगणे वा, मोहेण वा, सव्वजीव सत्ताणं अपराजिदो भवदु रक्ख रक्ख स्वाहा ।

॥ इति वर्द्धमान मंत्र ॥

ततोदध्यक्षत गोमय दूर्वांकुरान् मस्तके वर्धमान मंत्रेण निक्षिपेत् ।

भावार्थ-इस वर्धमान मंत्र को बोलकर आचार्य दधि अक्षत गोमयभस्म दूर्वा अंकुर दीक्षक के मस्तक पर डाले ।

मंत्र

ॐ णमो अरहंताणं रत्नत्रयपवित्रीकृतोत्तमांगाय ज्योतिर्मयाय मतिश्रुतावधीमनःपर्यय केवलज्ञानाय असिआउसा स्वाहा । इदं मंत्रं पठित्वा भस्मपात्रं गृहीत्वा कर्पूरमिश्रितं भस्म शिरसि निक्षिप्य निम्नमंत्रं उच्चार्य प्रथमं केशोत्पाटनं कुर्यात् ।

उसके बाद पवित्र भस्म-अरण्य कण्डे की राख ग्रहण करके-(लेकर) ॐणमो अरहंताणं....इत्यादि । इस मंत्र को पढ़कर कपूर से मिश्रित राख को मस्तक पर

डाले उसके प्रश्चात नीचे लिखा मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्रथम केश को उपाड़े (उखाड़े)।

"ॐ ह्रां अर्हद्भ्यो नमः, ॐ ह्रीं सिद्धेभ्यो नमः, ॐ ह्रूं सूरिभ्यो नमः ॐ ह्रौं पाठकेभ्यो नमः, ॐ ह्रः सर्वसाधुभ्यो नमः" इत्युच्चरन् गुरुः स्वहस्तेन पंचवारान् केशान् उत्पाटयेत् । पश्चादन्यः कोऽपि लोचावसाने बृहद्दीक्षायां लोचनिष्ठापनक्रियायां पूर्वाचार्येत्यादिकं पठित्वा सिद्धभक्तिः (किं) कर्तव्या (कुर्यात्) ततः शीर्ष प्रक्षाल्य गुरुभक्तिं दत्वा वस्त्राभरणयज्ञोपवीतादिकं परित्यज्य तत्रैवावस्थाय दीक्षां याचयेत् । ततो गुरुः शिरसि श्रीकारं लिखित्वा "ॐ ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा ह्रीं स्वाहा" अनेन मंत्रेण जाप्यं 108 दद्यात् । ततो गुरुस्तस्यांजलौ केशर कर्पूरश्रीखंडेन श्रीकारं कुर्यात् । श्रीकारस्य चतुर्दिक्षु-

रयणत्तयं च वंदे चउवीसजिणं तहा वंदे ।
पंचगुरुणं वंदे चारणजुगलं तहा वंदे ॥

"ॐ ह्रीं श्री............स्वाहा इस मंत्र से प्रथम केशों को उखाड़े तत्पश्चात् ॐ ह्रां........इत्यादि पंच विधमंत्र का उच्चारण करके गुरु अपने हाथ से केशों को उखाड़े केशलोंच करें । उसके बाद अन्य कोई भी लोंच समाप्त करें । लोंच की समाप्ति पर "बृहद्दीक्षायां...... इत्यादि पढ़कर सिद्ध भक्ति करना चाहिए पश्चात् मस्तक को प्रक्षालित करके गुरु की भक्ति प्रस्तुत करके वस्त्र, आभरण/आभूषण तथा यज्ञोपवीत आदि का परित्याग कर उसी अवस्था/नग्नावस्था में दीक्षा की याचना करें ।

उसके बाद गुरु सिर/मस्तक पर श्रीकार लिखकर "ॐ ह्रीमित्यादि मन्त्र से 108 बार जाप देवें । जाप करें । उसके बाद गुरु उस शिष्य की अँजुली में केशर, कपूर, श्री खण्ड द्रव्यों से श्रीकार करें । श्री कार के चारों दिशाओं में-

इति पठन् अंकान् लिखेत् पूर्वे 3, दक्षिणे 24, पश्चिमे 5, उत्तरे 4 लिखित्वा-

सम्यग्दर्शनाय नमः सम्यग्ज्ञानाय नमः सम्यक्चारित्राय नमः । इति पठन् तन्दुलैरञ्जलिं पूरयेत् तदुपरिनालिकेरं पूगीफलं च धृत्वा सिद्ध चारित्त योगिभक्तिं पठित्वा व्रतादिकं दध्यात् ।

भावार्थ-श्री लिखकर उसके चारों तरफ ऊपर लिखी हुई गाथा बोलकर पूर्व में 3, दक्षिण में 24, पश्चिम में 5, उत्तर में 4 अंकों को लिखकर सम्यग्दर्शनाय नमः इत्यादि बोलकर शिष्य की अंजुलि में चावल भरकर ऊपर नारियल सुपारी धरकर समय हो तो पूरी सिद्ध, चारित्र, योगिभक्ति पढ़कर व्रत देवें, नहीं तो लघु भक्तियां पढ़ें ।

वदसमिदिदिय रोधो लोचो आवासयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥1॥

पंच महाव्रत पंच समिति पंचेन्द्रियरोधलोचषटडावश्यक क्रियादयोऽष्टाविंशति मूलगुणाः उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंय-मतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि दशलाक्षणिको धर्मः अष्टादश शीलसहस्राणि चतुरशीतिलक्षगुणाः, त्रयोदशविधं चारित्रं, द्वादशविधं तपश्चेति सकलं सम्पूर्णं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुसाक्षिकं सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं समारूढं ते मे भवतु।

अर्थात्-यह उपरोक्त पाठ तीन बार पढ़कर शिष्य को व्रतों की व्याख्या समझाकर व्रत देवें और शांतिभक्ति का पाठ पढ़ें । ॥ आशीर्वाद श्लोक ॥

धर्मः सर्वसुखकरो हितकरो धर्मबुधाश्चिन्वते ।
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माया तस्मै नमः ॥

धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृतां धर्मस्य मूलं दया ।
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म ! मां पालय ॥

इति आशीः श्लोकं पठित्वा अंजलिस्थ तंदुलादिकं दात्रे प्रदेयं ।

अर्थात्- दीक्षा लेनेवाला सज्जन अपने हाथ में रखे हुए तंदुल नारियल सुपारी वगैरह उपरोक्त आशीर्वादात्मक श्लोक बोलकर दातार को देवें ।

अथ षोडश संस्कारारोपणं

अयं सम्यग्दर्शन संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥1॥
अयं सम्यग्ज्ञान संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥2॥
अयं सम्यक्चारित्र संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥3॥
अयं बाह्याभ्यन्तरतपः संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥4॥
अयं चतुरंगवीर्य संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥5॥
अयं अष्ट मातृमंडल संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥6॥
अयं शुद्ध्यष्टकोष्टं संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥7॥
अयं अशेष परीषह जय संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥8॥
अयं त्रियोग संयमनिवृत्तिशीलता संस्करा इह मुनौ स्फुरतु ॥9॥
अयं त्रिकरणा संयमनिवृत्ति शीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥10॥

अयं दशासंयमनिवृत्ति शीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥11॥
अयं चतुः संज्ञानिग्रह शीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥12॥
अयं पंचेन्द्रिय जय शीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥13॥
अयं दशधर्मधारण शीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥14॥
अयमष्टादशसहस्रशीलता संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥15॥
अयं चतुरशीति लक्षगुण संस्कार इह मुनौ स्फुरतु ॥16॥
इति प्रत्येकमुच्चार्य शिरसि लवंग पुष्पाणि क्षिपेत् ।

अर्थात्-इन प्रत्येक मंत्र को बोलते हुए आचार्य दीक्षक के मस्तक पर पुष्पादि क्षेपण करके संस्कार करें । फिर निम्न मंत्र पढ़कर दीक्षक के मस्तक पर पुनः पुष्प डालें।

णमों अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॐ परम हंसाय परमेष्ठिने हंस हंस हं ह्रां ह्रं ह्रौं ह्रीं ह्रैं हः जिनाय नमः जिनं स्थापयामि संवौषट् ॥

अथ गुर्वावलि

स्वस्तिश्रीवीरनिर्वाण संवत्सरे 24 .... मासानां मासोत्तमे .... मासे .... पक्षे .... तिथौ .... वासरे क्षेत्रे .... मूल तीर्थंकर शुभ वस्तिकास्थाने मूलसंघे सेनगणे पुष्करगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यादि परम्परायां आचार्य श्री शांतिसागर तत्शिष्या: श्री वीरसागराचार्य तत्शिष्या श्री शिवसागराचार्य तत्शिष्या; श्री धर्म सागराचार्य तत्शिष्या: नामधेय: त्वं .... शिष्योसि ।

नोट :-अपनी गुरु परम्परानुसार दीक्षा दाता बोले ।

अथोपकरण

पिच्छी प्रदान

ॐणमो अरहंताणं भो अन्तेवासिन् ! षड्जीवनिकाय रक्षणाय मार्दवादि गुणोपेतमिदंपिच्छोपकरणं गृहाण गृहाण इति पिच्छिकादानम् ।

शास्त्रदान

ॐ णमो अरहंताणं मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवलज्ञानाय द्वादशांग श्रुताय नमः भो अन्तेवासिन् ! इदं ज्ञानोपकरणं गृहाण गृहाण ॥ इति शास्त्रदानं ॥

शौचोपकरणं (कमण्डलु)

ॐ णमो अरहंताणं रत्नत्रय पवित्रीकरणांगाय बाह्याभ्यन्तरमलशुद्धाय नमः भो अन्तेवासिन् ! इदं शौचोपकरणं गृहाण गृहाण ।

(इति गुरु महाराज बांये हाथ से कमण्डलु दान देवें ।)

लघु समाधि भक्तिः

इच्छामि भंते समाहिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं रयणत्तयसरूवपरमप्पज्झाण लक्खणं समाहिभत्ती ए णिच्च कालं अंचेमो, पूजेमि, वंदामि, णमस्सामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुण सम्पत्ति, होउ मज्झं ।

ततो नवदीक्षितोमुनिर्गुरुभक्त्या गुरुं प्रणम्य अन्यान् मुनीन् प्रणम्योपविशति । यावद्व्रतारोपणं न भवति तावदन्ये मुनयः प्रतिवन्दनां न ददति ।

ततो दातृ प्रमुखाः जनाः उत्तम फलानि अग्रे निधाय तस्मै नमोऽस्तु इति प्रणामं कुर्वन्ति।

भावार्थ-समाधि भक्ति पढ़ने के बाद नवदीक्षित मुनि गुरुभक्ति से गुरुदेव को प्रणाम (नमस्कार) करके अन्य मुनियों को भी नमस्कार करके बैठ जावे । जब तक व्रतों का आरोपण नहीं होवे तब तक दूसरे मुनिवृन्द प्रतिवन्दना नहीं करें । इसके बाद दाता प्रधान मनुष्य उत्तम फलों को आगे धरकर उन नव दीक्षित मुनिराज को नमोस्तु करे ।

ततस्तत्पक्षे द्वितीयपक्षे वा सुमुहूर्ते व्रतारोपणं कुर्यात् । तदा रत्नत्रय पूजां विधाय पाक्षिक प्रतिक्रमणपाठः पठनीयः । तत्र पाक्षिक नियमग्रहण समयात् पूर्वं यदा यदसमिदिदीत्यादि पठ्यते तदा पूर्ववत् व्रतादि दद्यात् । नियमग्रहण समये यथायोग्यं एकं तपो दद्यात् । (पल्यविधानादिकं) दातृ प्रभृतिः श्रावकेभ्योपि एकं एकं तपोदद्यात् । ततोऽन्ये मुनयः प्रतिवंदनां ददति ।

उसके बाद उसी पक्ष में या उसके दूसरे पक्ष में शुभ/उत्तम मुहूर्त के होने पर व्रतों का आरोपण करें । तब इतना होने पर, रत्नत्रय पूजा को करना होता है तो पाक्षिक प्रतिक्रमण पढ़ना योग्य है ।

वहाँ उस पाक्षिक नियम ग्रहण के समय से पूर्व सबसे पहले वद समिदी आदि पढ़ते हुए पहले के समान व्रतादि को देवें । नियम ग्रहण करने के समयान्तर में यथायोग्य शक्त्यानुसार एक तप व्रत (पल्य विधानादि को) देवें और दीक्षा दिलाने वाले श्रावक भी एक-एक तप को देवें। उसके बाद ही अन्य मुनिवर्ग प्रतिवन्दना करते हैं ।

अब मुख शुद्धि मुक्त करण विधि कहते हैं-

मुखशुद्धी मुक्तकरणे विधिः

त्रयोदशसु पंचसु त्रिषु वा कच्चोलिकासु लवंग एला पुगी फलादिकं निक्षिप्यताः कच्चोलिकाः गुरोरग्रे स्थापयेत् । मुखशुद्धि मुक्तकरण पाठक्रियायामित्याद्युच्चार्य सिद्धयोग-आचार्य-शांति-समाधिभक्ति विधाय ततः पश्चान्मुखशुद्धि गृहणीयात् ।

13 अथवा 5 वा 3 विशेष पात्रों में लोंग, एला/इलायची, पुंगीफल (सुपारी) आदि डालकर उस पात्र को गुरु के आगे स्थापित करें ।

मुखशुद्धि........... आदि उच्चारण करके सिद्ध भक्ति, योगि भक्ति, आचार्य भक्ति, शान्ति भक्ति एवं समाधि भक्ति पढना चाहिए । उसके बाद मुख शुद्धि ग्रहण करें ।

॥इस प्रकार महाव्रत की दीक्षा विधि समाप्त ॥

क्षुल्लकदीक्षाविधिः

अथ लघुदीक्षायां सिद्ध-योगि-शान्ति-समाधिभक्तीः पठेत् । "ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं नमः" अनेन मंत्रेण जाप्यं वार 21 अथवा 108 दीयते ।

अन्यच्च विस्तारेण लघुदीक्षाविधिः

अथ लघुदीक्षानेतृजनः पुरुष : स्त्री वा दाता संस्थापयति । यथा- योग्यमलंकृतं कृत्वा चैत्यालये समानयेत्, देवं वंदित्वा सर्वैः सह क्षमां कृत्वा गुरोरग्रे च दीक्षां याचयित्वा तदाज्ञया सौभाग्यवतीस्त्री विहितस्वस्तिकोपरि श्वेतवस्त्रं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वाभिमुखः पर्यंकासनो गुरुश्चोत्तराभिमुखः संघाष्टकं संघं च परिपृच्छय लोचं.................. "ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये शान्तिनाथाय शान्तिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्वक्षामडामर विनाशनाय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अमुकस्य सर्वशान्तिं कुरु कुरु स्वाहा" अनेन मंत्रेण गन्धोदकादिकं त्रिवारं शिरसि निक्षिपेत् । शान्तिमंत्रेण गन्धोदकं त्रिः परिषिच्य वामहस्तेन स्पृशेत् । ततो दध्यक्षतगोमयतद्भस्म दूर्वांकुरान् । मस्तके वर्धमानमंत्रेण निक्षिपेत् "ॐ णमो भयवदो वड्ढमाणस्सेत्यादि वर्धमानमन्त्रः पूर्वं कथितः। लोचादिविधिं महाव्रतवद्विधाय सिद्ध-भक्ति-योगिभक्ती पठित्वा व्रतं दद्यात् । दंसणेत्यादि वारत्रयं पठित्वा व्याख्यां विधाय च गुर्वावलीं पठेत् । ततः संयमाद्युपकरणं दद्यात् ।

ॐणमो अरहंताणं भोः क्षुल्लक ! (आर्य-ऐलक !) क्षुल्लके वा षट्जीवनिकायरक्षणाय मार्दवादिगुणोपेतमिदं पिच्छोपकरणं गृहाण गृहाण, इत्यादि पूर्ववत्कमण्डलुं ज्ञानोपकरणादिकं च मंत्रं पठित्वा दद्यात्

इति लघुदीक्षाविधानं समाप्तम् ।

क्षुल्लक दीक्षा विधि :

यहाँ लघु दीक्षाया के लिए सिद्धभक्ति, योगिभक्ति, शान्ति भक्ति एवं समाधि भक्ति पढ़ें। ''ॐ ह्रोमित्यादि'' इस मंत्र से 21 बार अथवा 108 बार जाप देवें ।

और भी विस्तार से लघु दीक्षा विधि लिखते है-

यहाँ लघुदीक्षा-क्षुल्लक, क्षुल्लिका, पुरुष अथवा स्त्री, दीक्षा दाता को स्थापित करते हैं। यथायोग्य-शक्ति व योग्यता के अनुसार अलंकारों से अलंकारित करके चैत्यालय में आवें। देव वन्दना करके सभी के साथ क्षमायाचना व क्षमा प्रदान करके गुरु के आगे दीक्षाप्रदान करने के लिए याचना (प्रार्थना) करके उन गुरु की आज्ञानुसार सौभाग्यवती स्त्री द्वारा निर्मित श्वेत वस्त्र से आच्छादित स्वस्तिक के ऊपर पूर्व दिशा की ओर मुख करके पर्यंकासन पूर्वक बैठें और गुरु उत्तराभिमुख होकर संघाष्टक और संघ से पूछ कर ....

''ॐनमोऽर्हते इत्यादि मंत्र से गन्धोदक तीन बार सिर पर क्षेपण करें । शान्तिमंत्र से गन्धोदक तीन बार सिंचन करके बायें हाथ से मस्तक को स्पर्श करें । उसके बाद दही, अक्षत, गोमय और उसकी भस्म (राख) तथा दूर्वांकुरों से मस्तक पर वर्धमान मंत्र पढ़कर क्षेपण करें । ''ॐणमो भयवदो वड्ढमाणस्स इत्यादि वर्धमान मंत्र पहले कहे अनुसार पढ़े । लोच आदि विधि को महाव्रत विधि के समान सिद्ध भक्ति एवं योगिभक्ति पढ़कर व्रत देवें । दंसणवय इत्यादि तीन बार पढ़कर उसकी व्याख्या विस्तार पूर्वक करके और गुर्वावली पढ़े । उसके बाद संयम के उपकरण को प्रदान करें ।

ॐणमो अरहंताणं.......... गृहाण, इत्यादि पहले के समान/मुनिव्रत दीक्षा के समान कमण्डलु, ज्ञानोपकरण शास्त्रादिक को उक्त मंत्र पढ़ कर प्रदान करें ।

''इस प्रकार लघु दीक्षा विधान समाप्त हुआ''

अथोपाध्यायपददानविधिः

सुमुहूर्ते दाता गणधरवलयार्चनं द्वादशाङ्गश्रुतार्चनं च कारयेत् । ततः श्रीखंडादिना छटान् दत्वा तन्दुलैः स्वास्तिकं कृत्वा तदुपरि पट्टकं संस्थाप्य तत्र पूर्वाभिमुखं तमुपाध्यायपदयोग्यं मुनिमासयेत् । अथोपाध्यायपदस्थापनक्रियायां पूर्वाचार्येत्याद्युच्चार्य सिद्धश्रुतभक्ती पठेत् । तत आवाहनादिमंत्रानुच्चार्य शिरसि लवंगपुष्पक्षतं क्षिपेत् । तद्यथा-ॐ ह्रीँ णमो उवज्झायाणं उपाध्यायपरमेष्ठिन् ! अत्र एहि एहि संवौषट्,

अह्वाननं स्थापनं सन्निधीकरणं । ततश्च "ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं उपाध्यायपरमेष्ठिने नमः" इमं मंत्रं सहेन्दुना चन्दनेन शिरसि न्यसेत् । ततश्च शान्तिसमाधिभक्ती पठेत् । ततः स उपाध्यायो गुरुभक्तिं दत्वा प्रणम्य दात्रे आशीषं दद्यादिति।

इत्युपाध्यायपदस्थानविधिः ।

अब उपाध्याय पद प्रतिष्ठा की विधि लिखते हैं-

शुभमुहूर्त में दाता गणधर वलय की पूजा और द्वादशांग श्रुत की पूजा करावे उसके बाद श्री खण्ड आदि के समूह से तन्दुल-चावलों से स्वस्तिक को करके-बनाकर उसके ऊपर वस्त्र स्थापित करके उसके ऊपर पूर्व दिशा की ओर मुख करके उस उपाध्याय पद प्रतिष्ठा के योग्य मुनि को बैठावें । उसके बाद "उपाध्याय पद स्थापना.... इत्यादि उच्चारण करके सिद्धभक्ति पढ़े । तत्पश्चात् आवाहनन् आदि मंत्रों का उच्चारण करते हुए मस्तक पर लोंग, पुष्प अक्षत को क्षेपण करें । वह मंत्र इस प्रकार है-

ॐ ह्रौं णमो मित्यादि आह्वननादि मंत्र ॥

तत्पश्चात् ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं उपाध्याय परमेष्ठिने नमः । इस मन्त्र की सहायता से चन्दन को सिर पर क्षेपण करें । अथानन्तर शान्ति भक्ति और समाधिभक्ति पढ़ें ।अनन्तर वह उपाध्याय, गुरु को भक्ति पूर्वक नमस्कार करता है और दाता (आचार्य) उसको आशीर्वाद देता है ।

इस प्रकार उपाध्याय पदस्थान विधि हुई ॥

आचार्यपदप्रतिष्ठापनक्रिया

सिद्धाचार्यस्तुती कृत्वा सुलग्ने गुर्वनुज्ञया ।

लात्वाचार्यपदं शान्तिं स्तुयात्साधुः स्फुरद्गुणः ॥

जिसके गुण संघ के चित्त में स्फुरायमान हो रहे हैं ऐसे साधु शुभ लग्न में सिद्धभक्ति और आचार्य भक्ति करके गुरु की आज्ञा से आचार्य पद को ग्रहण कर शान्ति भक्ति करे ।

अथ आचार्यपदप्रतिष्ठापनक्रियायां.....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि-

(सिद्धभक्तिः)

अथ आचार्यपदप्रतिष्ठापनक्रियायां.........आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमि-

(आचार्यभक्तिः)

एवं भक्तिद्वयं पठित्वा 'अद्यप्रभृति भवता रहस्यशास्त्राध्ययन

दीक्षादानादिकमाचार्यकार्यमाचर्यमिति गणसमक्षं भासमाणेन गुरुणा समर्प्यमाणपिच्छग्रहणलक्षणमाचार्यपदं गृह्णीयात् । अनन्तरं-

अथ आचार्यपदनिष्ठापनक्रियायां............शान्तिभक्तिकायोत्सर्गं करोमि-

सुमुहूर्ते दाता शान्तिकं गणधरवलयार्चनं च यथाशक्ति कारयेत् । ततः श्रीखंडादिना छटादिकं कृत्वा आचार्यपदयोग्यं मुनिमासयेत् । आचार्यपदप्रतिष्ठापनक्रियायां इत्याद्युच्चार्य सिद्धाचार्यभक्ति पठेत् । ''ॐ हू परमसुरभिद्रव्यसन्दर्भपरिमलगर्भतीर्थाम्बु-सम्पूर्णसुवर्णकलशपंचकतोयेन परिषेचयामीति स्वाहा'' इति पठित्वा कलशपंचकतोयेन पादोपरि सेचयेत् । ततः पंडिताचार्यो ''निर्वेद सौष्ठ'' इत्यादि महर्षिस्तवनं पठन् पादौ समंतात्परामृश्य गुणारोपणं कुर्यात् । ततः ॐ हूं णमो आइरियाणं आचार्यपरमेष्ठिन् ! अत्र एहि एहि संवौषट् आवाहनं स्थापनं सन्निधीकरणं । ततश्च ''ॐ हूं णमो आइरियाणं धर्माचार्याधिपतये नमः'' अनेन मंत्रेण सहेन्दुना चन्दनेन पादयोर्द्वयोस्तिलकं दद्यात् । ततः शान्तिसमाधिभक्ती कृत्वा गुरुभक्त्या गुरुं प्रणम्योपविशति । तत उपासकास्तस्य पादयोरष्टतयीमिष्टिं कुर्वन्ति । यतयश्च गुरुभक्तिं दत्वा प्रणमन्ति । स उपासकेभ्य आशीर्वादं दद्यात् ।

इत्याचार्यपददानविधिः ।

अन्यच्च-ॐ ह्रां ह्रीं श्रीं अर्हं हं सः आचार्याय नमः- आचार्यवाचनामंत्रः ।

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं हं सः आचार्याय नमः- आचार्यमंत्रः ।

''इति श्री''

शुभ मुहूर्त में पद देने वाला शान्तिकारक गणधरवलय की पूजाशक्ति प्रमाण पूर्वक करावे। तत्पश्चात् श्री खण्ड आदि के ढेर को स्वस्त्यादि करके आचार्य पद प्रतिष्ठा के योग्य मुनि को बैठावे और ''आचार्य पद प्रतिष्ठापनादि'' का उच्चारण करके सिद्ध भक्ति पढ़े ।

ॐ हू.........इत्यादि पढ़कर पंच कलश के जल से चरणों पर सेंचन का अप्रक्षाल करे । उसके बाद पंडिताचार्य ''निर्वेद सौष्ठ'' इत्यादि महर्षि स्तोत्र पढ़कर पाद प्रक्षाल आदि सम्पूर्ण क्रिया करके गुणों का आरोपण करे । तदनन्तर ॐ हूं.........इत्यादि आवाहनन् स्थापन सन्निधीकरण मंत्र पढ़ने के बाद ''ॐ हूं णमो.....इति मंत्र से चन्दन से पादद्वय/चरण युगल पर तिलक करें और बाद में शान्तिभक्ति और समाधिभक्ति करके गुरु की भक्ति से गुरु को प्रणाम कर/नमस्कार कर बैठ जावे । उसके बाद उसकी-आचार्य की, उपासना करने वाले करते है और अन्य यति के द्वारा गुरु भक्ति से नमस्कार करते हैं । वह आचार्य उपासकों के लिए आर्शीर्वाद प्रदान करे। इस प्रकार आचार्य पद प्रदान की विधि समाप्त हुई ।